ट. २ ६६८०
पूर्ण आरक्षित

प्राक्कथन

पाँच वर्ष पूर्व जब मैं—'बौद्धदर्शन में आत्मपरीक्षा' विषय को लेकर शोधकार्य में रत था, तो सामग्री-संग्रहक्रम में विविध दार्शनिक परम्पराओं के मूल ग्रन्थों का अवलोकन करने का अवसर प्राप्त हुआ। इस क्रम में जिस ग्रन्थ ने मेरे मन को अधिक आकृष्ट किया, वह था—वसुबन्धु कृत 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि'-प्रकरण। मुझे आश्चर्य हुआ कि ऐसा विचारपूर्ण ग्रन्थ अभी तक हिन्दी तथा संस्कृत जगत् को सुगमतया प्राप्त क्यों नहीं है। जो दुष्प्राप्य प्रति मुझे काम करने के लिए मिली थी, वह श्री सिल्वां लेवी द्वारा सम्पादित तथा १९२५ ई० में पेरिस से प्रकाशित थी। इसकी दुर्लभता एवं प्रौढ़ चिन्तन-प्रक्रिया ने बलात् मेरे मन में इसके सम्पादन एवं हिन्दी अनुवाद की प्रेरणा दी। फलतः शोधकार्य समाप्त होते ही मैं इसके सम्पादन कार्य में आ जुटा।

इस प्रसंग में मेरा प्रथम प्रयास यह था कि इस ग्रन्थ की कुछ प्रामाणिक मूल प्रतियां प्राप्त करूं जिनके सहारे इसका आलोचनात्मक संस्करण तैयार किया जा सके। श्री सिल्वां लेवी महोदय द्वारा सम्पादित ग्रन्थ की भूमिका में इसकी पाण्डुलिपि प्राप्ति के सम्बन्ध में जिन उत्सों का उल्लेख है, उनसे मैंने भी लाभान्वित होना चाहा पर कई प्रकार की कठिनाइयों के कारण इस दिशा में अधिक सफलता नहीं मिल सकी। यत्न के उपरान्त भी इस ग्रन्थ की जो प्रतियां मुझे मिल सकीं वे निम्नलिखित हैं :—

(१) विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि (विंशतिका एवं त्रिंशिका क्रमशः वृत्ति तथा भाष्य सहित), १९२५, पेरिस—सं० श्री सिल्वां लेवी।

(२) विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि (विंशतिका एवं त्रिंशिका क्रमशः वृत्ति तथा भाष्य सहित), पुनर्मुद्रित, १९४०, संघाई—सं० श्री सिल्वां लेवी।

(३) विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि (विंशतिका वृत्ति सहित) १९५७, नव नालन्दा महाविहार, रिसर्च भल्युम १ में प्रकाशित, सं० डा० सितांशु शेखर बाग्ची, एम० ए०, डी० लिट्०, निर्देशक, मिथिला संस्कृत विद्यापीठ, दरभंगा।

इनमें संख्या १ तथा २ सामान्य अन्तर के साथ एक ही प्रति के दो संस्करण हैं। संख्या ३ की प्रति उन्हीं पर आवृत केवल विंशतिक

प्रकरण से युक्त है। अतः पूर्णरूप से काम करने के लिए संख्या १ तथा २ की प्रतियां ही उपयुक्त सिद्ध हुईं जो प्रस्तुत संस्करण का आधार रूप बनीं। सम्पादनगत सुविधा के लिए संख्या १ तथा २ की प्रतियों का सांकेतिक नाम '*A*' तथा संख्या ३ का '*B*' दिया गया। संख्या २ की प्रति के अन्त में जापानी विद्वान डा० उई द्वारा विविध टीकाओं के आधार पर तैयार किया हुआ एक संशोधनपत्र भी संलग्न है। उस अंश की अभिव्यक्ति के लिए सांकेतिक वर्ण '*C*' का प्रयोग हुआ है।

इस ग्रन्थ की अनुवाद-सम्बन्धी छानबीन करने पर प्रकट हुआ कि शताब्दियों पूर्व इसका अनुवाद चीनी तथा तिब्बती भाषाओं में हो चुका है। आधुनिक-अनुवाद संस्करणों के सम्बन्ध में प्राच्य ग्रन्थों की जापानी सूची के आधार पर निम्नलिखित सूचनायें प्राप्त हुईं[१] :—

(१) विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि–फ्रेंच अनुवाद–१९३२–श्री सिल्वां लेवी।
(२) विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि–जर्मन अनुवाद–१९३२–श्री एच. जकोबी।
(३) विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि–जापानी अनुवाद–१९५२–श्री डा० उई।
(४) विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि–जापानी अनुवाद–१९५२–श्री प्रो. यामागुची
(५) विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि–जर्मन अनुवाद–१९५६–श्री ए. फ्राउवाल्नर,

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि का प्रस्तुत संस्करण तैयार करने में पूर्वकथित मूल प्रतियों तथा डा० उई के संशोधनपत्र का सम्यक् उपयोग किया गया। विषय को सुबोध एवं सुगम बनाने तथा प्रसंग का पूर्वापर सम्बन्ध दर्शाने की दृष्टि से अनुच्छेद आदि की व्यवस्था यथास्थान नये ढंग से की गई है। ऐसा करते हुए सर्वदा ग्रन्थ की विशदता तथा भाव की स्पष्टता की भावना मूलरूप से काम करती रही है।

किसी भी प्राचीन ग्रन्थ की एक ही पाण्डुलिपि या मुद्रित प्रति लेकर सम्पादन-कार्य में प्रवृत्त होने पर सम्पादक को जिन कठिनाइयों के दर्शन समय-समय पर हुआ करते हैं, उनसे मैं पूर्णतः परिवारित रहा। इनमें सबसे बड़ी कठिनाई पाठनिर्धारण-सम्बन्धी होती है। ऐसी कठिनाई के अनुभव करने के अवसर बौद्ध-संस्कृत-ग्रन्थों के सम्पादन-समय विशेषतया मिलते हैं। कारण यह है कि बौद्ध दार्शनिकों ने जब संस्कृत में ग्रन्थ लिखना प्रारंभ किया तो उन लोगों ने व्याकरण के नियमों का पालन करने में अधिक तत्परता नहीं दिखलायी। उनके सामने विषय-

---

१. Ryojyo Yamada–Bongo-butten no Sho-bunken, pp. 134–5.

वस्तु की प्रधानता थी। या ऐसी भी संभावना की जा सकती है कि उनके सामने जो अपनी परम्परा के व्याकरणग्रन्थ थे, जो अभी अप्राप्त हैं, उनके नियमों के अनुसार ही उन्होंने संस्कृत प्रयोगों को मूर्त्त किया। इसलिए बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों के कतिपय प्रयोगों को मुनित्रयिक-व्याकरणपरम्परा के मापदण्डों से देखने पर व्याकरण एवं इतिहास में द्वन्द्व-सा चल पड़ता है। वहाँ भी कुछ ऐसे शब्द अधिक हतप्रभ-सा कर डालते हैं, जब उनके कई रूप विविध प्रसंगों में देखने को मिलते हैं। ऐसी दशा में मुझे मध्यममार्ग के अवलम्बन में ही औचित्य प्रतीत हुआ और कुछ वैसे शब्द अपने विविध रूपों में ही रहने दिये गये।

प्रस्तुत प्रकरण का हिन्दी अनुवाद देने में सर्वदा मूलपाठ के निकट रहने की चेष्टा की गई। शब्दसंचयन में विशेषतः संस्कृत-परम्परा का अनुसरण किया गया। जहाँ मात्र अनुवाद से मूल पाठ का स्पष्टीकरण नहीं हो सका है, वहाँ कोष्ठक में कुछ शब्द या वाक्यांश जोड़ दिये गये हैं। साथ ही विषय को अधिक बोधगम्य बनाने के लिए एक सरल भूमिका भी दी गई है।

इस प्रसंग में अब उन गुरुजनों, मित्रों एवं स्नेहीजनों के प्रति आभार के शब्द बरबस निःसृत हो उठते हैं, जिन्होंने मुझे अनेक दृष्टियों से लाभान्वित किया है। बौद्ध वाङ्मय में सन्निहित विचारनिधि से परिचय कराने में मेरे तीन गुरुवरों का प्रभूत योग रहा है। वे हैं—भिक्षु जगदीश काश्यप, एम० ए०, त्रिपिटकाचार्य, निदेशक, नव नालन्दा महाविहार, डा० एस० मुखर्जी, एम० ए०, पी-एच० डी०, भू० पू० निदेशक तथा स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती, शोध प्राध्यापक। इन्होंने ही मुझे इस दिशा में प्रवृत्ति, दृष्टि तथा सम्बल प्रदान किया है। यदि इनकी कृपा मुझ पर नहीं हुई होती तो इस दिशा में मेरी गति ही नहीं हो पाती। इनके ऐसे उपकार के लिए मैं आजीवन ऋणी रहूँगा। मेरे मित्र प्रो० दिलीप कुमार बनर्जी, एम० ए०, आचार्य, ने फ्रेंच तथा जर्मन उत्सों से आवश्यक सामग्री देकर मुझे सर्वदा उपकृत किया है। डा० उ० धर्मरत्न, एम०ए०, डी०फिल० तथा डा० चन्द्रिका सिंह 'उपासक' एम० ए०, पी-एच० डी० (लन्दन) के स्नेह भरे शब्द एवं आवश्यक सुझावों ने मुझे प्रगतिशील बनाये रखा है। भाई श्री बीरबल शर्मा, एम० ए०, आचार्य की शब्दगठन, अनुच्छेद-व्यवस्था तथा मुद्रण-सम्बन्धी सम्मतियाँ सदा लाभप्रद रही हैं। मेरे स्नेही बन्धु प्रो० अंगराज चौधरी, एम० ए० के आलोचनात्मक एवं संतुलित

परामर्श मेरे विचार एवं अभिव्यक्ति को संयमित बनाने में सहायक रहे हैं। पुस्तकालयाध्यक्ष श्री मिथिलेश्वर प्रसाद ने आवश्यक पुस्तकें प्रदान करने में कभी भी समय-असमय का ध्यान न रखा। प्रो० नागेन्द्र प्रसाद, एम० ए० तथा प्रो० रिगजिन् लुन्डुब से बौद्धदर्शन की बातों को हिन्दी में लिखने की प्रेरणा पाता रहा। इन सभी सज्जनों के ऐसे उपकार के लिए मैं हृदय से आभार स्वीकार करता हूँ। पुनः मैं अपने प्रिय पुत्र चिरञ्जीवी योगेश को भी सस्नेह साधुवाद देने में नहीं चूक सकता हूँ, जिसने विषय को न जानते हुए भी पाण्डुलिपि के साथ प्रूफ को मिलाने में अथक परिश्रम किया है। पुनः चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी के प्रतिनिधि पं० देवनारायण झा तथा उदीयमान संचालक श्री मोहनदास गुप्त जी को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता हूँ, जिनके सहयोग से इस ग्रन्थ को सुधीजनों का करस्पर्श प्राप्त हो रहा है।

अन्त में मेरी एक क्षमा-याचना भी है। मनुष्य के स्खलनधर्मी होने के कारण उसकी कृतियाँ उसके दोषों से नहीं बच पाती हैं। यह बात यहाँ भी चरितार्थ हुई है। इस ग्रन्थ को शुद्ध रूप देने के लिए सदा जागरूक रहने पर भी कुछ अशुद्धियाँ रह ही गयी हैं। इनके निवारणार्थ पुस्तक के अन्त में शुद्धिपत्र दे दिया गया है। सुधीजन उसके सहारे उन्हें सुधारकर ही पुस्तक को पढ़ने की कृपा करें।

विजयादशमी,
१९६६

महेश तिवारी

भूमिका

ग्रन्थ-परिचय

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि दो ग्रन्थों से समुपेत है। वे हैं—विंशतिका तथा त्रिंशिका। विंशतिका में बाईस तथा त्रिंशिका में तीस कारिकायें हैं। इन दोनों प्रकरणों के रचयिता आचार्य वसुबन्धु हैं। प्रकरण के अन्त में उपलब्ध निगमन वचन से प्रकट होता है कि विंशतिका पर आचार्य वसुबन्धु ने स्वयं वृत्ति लिखी थी तथा त्रिंशिका पर उनके शिष्य आचार्य स्थिरमति का भाष्य है।[१] प्रस्तुत संस्करण में विंशतिका के साथ वृत्ति तथा त्रिंशिका के साथ भाष्य समुल्लसित हैं। इनके साथ ही हिन्दी अनुवाद तथा यत्र-तत्र व्याख्या दी गई है।

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि विज्ञानवाद का आधार ग्रन्थ है। विंशतिका में 'विज्ञान-मात्र सत् है'—इस सिद्धान्त का तर्कानुकूल प्रतिपादन है तथा त्रिंशिका में विज्ञान के भेद-प्रभेदों का वर्णन तथा संसार एवं निर्वाण की सम्यक् व्याख्या है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में विज्ञानवाद परम्परा के समस्त सिद्धान्तों का सार रूप से कथन है। स्थान-स्थान पर पूर्वपक्ष के रूप में अन्य चिन्तनपरम्पराओं के सिद्धान्तों का उल्लेख है, जिससे ऐतिहासिक तथा दार्शनिक तथ्यों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए सम्यक् दिग्दर्शन प्राप्त होता है। इन सब दृष्टियों से यह ग्रन्थ शताब्दियों तक प्रबुद्ध चिन्तनक्रम का विषय बना रहा। बोधिसत्त्व धर्मपालादि ने इस पर कई टीकायें लिखीं। साथ ही चीनी, तिब्बती, फ्रेंच, जर्मन, जापानी आदि भाषाओं में इसके अनुवाद भी हुए। चीनी यात्री ह्वेनसांग की कृतियों से प्रकट होता है कि उन्हें इस ग्रन्थ पर संस्कृत में एक बड़ी टीका प्राप्त थी जिसका उन्होंने चीनी भाषा में अनुवाद किया था[२]। दुर्भाग्यवश यह टीका आज अपने संस्कृत रूप में अप्राप्य है। श्री पुंसे महोदय ने चीनी अनुवाद के आधार पर इसका फ्रेंच अनुवाद तैयार किया है जिसका प्रकाशन पेरिस से १९२९ ई० में हुआ था[३]। स्वर्गीय महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने भी श्री ह्वेनसांग द्वारा

---

१. विंशतिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः, कृतिरियमाचार्यवसुबन्धोः। वि० सि०, २३.

त्रिंशिकाविज्ञप्तिभाष्यं समाप्तम्, कृतिराचार्यस्थिरमतेः। वि० सि०, १०२.

२. धर्मपालादिबोधिसत्त्वैः कृते, अधिगत(राजा)ऽऽज्ञेन त्रिपिटकधर्माचार्येण युनृच्वङ् च अनूदिते विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिशास्त्र······

Appendix to J. B. O. R. S. Vol. XIX.

३. Vijñaptimātratasiddhi—La Valle Poussin, Librairie Orientaliste Paul Geuthner, 13, Rue Jacob.

अनूदित विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिशास्त्र के कुछ अंश का चीनी विद्वान श्री वोङ्ग माउ लम के सहयोग से संस्कृत में पुनरुद्धार किया है, जो गत कई वर्ष पूर्व बिहार और उड़ीसा रिसर्च सोसायटी की शोधपत्रिका के उन्नीसवें तथा बीसवें खण्ड में प्रकाशित हुआ है। इसके अवलोकन से प्रकट होता है कि विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि पर उपलब्ध कई टीकाओं का संग्रहरूप वह विशालग्रन्थ रहा होगा।

ग्रन्थकार-परिचय

आचार्य वसुबन्धु

आचार्य वसुबन्धु का जन्म गान्धार प्रदेश के पुरुषपुर ग्राम में एक कौशिक-गोत्रीय ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। ये तीन भाइयों में मझले थे। बड़े भाई का नाम असंग था, जो महायान दर्शन के विज्ञानवाद परम्परा के प्रमुख आचार्य थे। छोटे भाई विरञ्चिवत्स सर्वास्तिवाद के पण्डित थे। वसुबन्धु का क्षेत्र सर्वास्तिवाद तथा विज्ञानवाद दोनों था। विन्टरनित्स के अनुसार तीनों भाई पहले सर्वास्तिवादी थे[१]। वसुबन्धु की शिक्षा काश्मीर में हुई थी। बुदोन के अनुसार वैभाषिक आचार्य संघमित्र इनके गुरु थे। परमार्थ ने उनके गुरु का नाम बुद्धमित्र तथा ह्वेनसांग ने मनोरथ बतलाया है[२]। सातवीं शताब्दी के पर्यटक ह्वेनसांग तथा इत्सिंग ने अपने भ्रमण-वृत्तान्त में वसुबन्धु का उल्लेख किया है[३]। ह्वेनसांग ने पुरुषपुर में उनकी स्मृति में सुरक्षित एक प्रस्तर अभिलेख देखा था[४]।

वसुबन्धु के जीवनवृत्त, काल तथा कर्तृत्व के सम्बन्ध में प्राचीन तथा नवीन प्रचुर सामग्री उपलब्ध हैं[५]। कुमारजीव (३८३–४१२) तथा परमार्थ (४९९–

१. History of Indian Literature, Vol. II. p. 355.

२. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० ४२३.

३. J. R. A. S. (1905) p. 40.

४. तत्त्वसंग्रह भूमिका, पृ० ४२३.

५. (a) Winternitz—History of Indian Literature, Vol. II. pp. 257, 324, 355-63, 632;
(b) Kimura—A historical study of the terms of Hinayana and Mahayana and origin of Mahayana Buddhism pp. 174-87;
(c) Journal of letters Calcutta University, Vol. I. pp. 29-34;
(d) V. A. Smith—Early History of India, pp. 28-29;
(e) S. Radhakrishnan—History of Indian Philosophy, Vol. I., pp. 624-25;

५६९) नामक दो भारतीय विद्वानों ने आचार्य वसुबन्धु का स्वतन्त्र जीवनचरित्र लिखा है। कुमारजीव द्वारा लिखित पुस्तक अभी प्राप्त नहीं है पर परमार्थ-रचित वसुबन्धुचरित का चीनी अनुवाद उपलब्ध है। जापान के विद्वान ताकाकुसु ने उसका अंग्रेजी अनुवाद तथा एक बृहत् आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है[1]। कहा जाता है कि वसुबन्धु युवावस्था में ही अपनी जन्मभूमि से अयोध्या चले गये जो उस समय विद्वद्भूमि समझी जाती थी। वहीं पर उन्होंने बुद्धमित्र स्थविर से हीनयान में दीक्षा ली तथा गुरु के साथ विहार में रहकर बौद्धदर्शन का अध्ययन किया। ये प्रारम्भ से ही बड़े वाग्मी, तार्किक एवं शास्त्रार्थप्रेमी थे। उन्होंने अनेक तीर्थ स्थानों तथा ज्ञानपीठों में भ्रमण कर विद्वानों का समागम किया। सुप्रसिद्ध सांख्याचार्य विन्ध्यवासीकृत सांख्यसप्तति के खण्डनार्थ उन्होंने परमार्थसप्तति नामक ग्रन्थ लिखा। पुनः अभिधर्मकोश की रचना कर वैभाषिक दर्शन के सिद्धान्तों को दृढ़ किया।

उक्त ग्रन्थों की रचना के बाद वसुबन्धु के पाण्डित्य की ख्याति विद्वत्समाज में बहुत बढ़ गई। इनके पाण्डित्य से मुग्ध होकर अयोध्या के राजा विक्रमादित्य ने इन्हें राजकीय सम्मान प्रदान किया। उन्होंने अपनी रानी ध्रुवा तथा पुत्र बालादित्य को उनके निकट अध्ययन के लिए भेजा। विक्रमादित्य की मृत्यु के बाद जब बालादित्य का राज्याभिषेक हुआ तो उन्होंने बहुत आदर के साथ वसुबन्धु को अपने दरबार में स्थान दिया। वहीं रहकर उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की। वृद्धावस्था में अपने बड़े भाई असंग की प्रेरणा से वे पुरुषपुर गये जहाँ उन्होंने इन्हें विज्ञानवादपरम्परा में दीक्षित किया। वहीं पर इन्होंने महायान दर्शन के ग्रन्थों का अध्ययन किया तथा कुछ समय बाद वे पुनः अयोध्या चले आए। असंग की मृत्यु के अनन्तर अपने जीवन के अवशेष दस वर्षों में इन्होंने विज्ञानवाद पर कई ग्रन्थों की रचना की। अन्त में अस्सी वर्ष की अवस्था में अयोध्या में इनकी लोकलीला समाप्त हो गयी। इनकी मृत्यु के बाद आचार्य स्थिरमति, दिङ्नाग, आर्यविमुक्तसेन गुणप्रभ आदि शिष्यों ने इनकी ज्ञानपरम्परा को बहुत दिनों तक जीवित रखा।

(f) Kieth—Indian Historical Quarterly (1928), pp. 630–36.
(g) J. B. O. R. S. Vol. 12, pp. 587–91;
(h) Vidyabhusan—History of Indian Logic, pp. 268–69;
(i) गैरोला–संस्कृतसाहित्य का इतिहास पृ० ४३५-४३९.

१. J. R. A. S. (1905), pp. 33–53.

वसुबन्धु के काल के सम्बन्ध में विद्वानों का मतैक्य नहीं है। चौथी शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी के बीच विविध विद्वानों द्वारा इन्हें रखा जाता है। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने इनका काल ५१० ई० बतलाया है[1]। मोक्षमूलर के अनुसार ये छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विद्यमान थे[2]। जापानी विद्वान ओगीहारा ने इन्हें पांचवीं शताब्दी में दिखलाया है।[3] मैकडोनेल,[4] डा० विद्याभूषण,[5] डा० स्मिथ,[6] विनयतोष भट्टाचार्य[7] प्रभृति विद्वानों ने इनका काल चौथी शताब्दी माना है। जापानी विद्वान ताकाकुसु ने परमार्थ लिखित वसुबन्धुचरित का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए कई अन्तःप्रमाणों के आधार पर इनका काल ४२० से ५०० ई के बीच माना है[8]। इस प्रसंग में दिये गये साक्ष्यों के आधार पर उनका यह निष्कर्ष मान्य प्रतीत होता है।

वसुबन्धु की कृतियों के सम्बन्ध में अभी तक जो उपलब्धियाँ हो पायी हैं, वे निम्नलिखित हैं[9] :—

१. अभिधर्मकोश तथा भाष्य
२. परमार्थसप्तति
३. तर्कशास्त्र
४. वादविधि
५. गाथासंग्रह
६. सद्धर्मपुण्डरीकटीका
७. महापरिनिर्वाणसूत्रटीका
८. वज्रच्छेदिकासूत्रशास्त्र
९. महायानसम्परिग्रहशास्त्रव्याख्या

---

१. ह्वेनसांग भारत भ्रमण पृ०, ८३-९३.
२. India, p. 306.
३. E. R. E. Vol. 12, p. 595.
४. History of Sanskrit Literature, p. 325.
५. J. A. S. B. 1905, p. 227.
६. Early History of India, pp. 328–29.
७. तत्त्वसंग्रह भूमिका, ६३–६९.
८. J. R. A. S. 1905, pp. 40–53.
९. Winternitz—History of Indian Literature, Vol. II. pp. 355–63;
J. R. A. S. 1905, pp. 33–38;
तत्त्वसंग्रह भूमिका, पृ० ५६...;
गैरोला—संस्कृतसाहित्य का इतिहास, पृ० ४३८.

१०. विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि (विंशतिका एवं त्रिंशिका)
११. पञ्चस्कन्धशास्त्र
१२. जयशीर्षसूत्रटीका
१३. सत्शास्त्रव्याख्या
१४. विशेषचिन्ताब्राह्मणपरिपृच्छासूत्रटीका
१५. दशभूमिकशास्त्र
१६. त्रिपूर्णसूत्रोपदेश
१७. धर्मचक्रप्रवर्तनसूत्रोपदेश
१८. निर्वाणसूत्रपूर्वभूतोत्पन्नभूतगाथाशास्त्र
१९. महायान-सद्धर्मविद्याद्वारशास्त्र
२०. विद्यामात्रसिद्धित्रिदशशास्त्र
२१. बोधिचित्तोत्पादनशास्त्र
२२. बुद्धगोत्रशास्त्र
२३. समथविपश्यनाद्वारशास्त्र-कारिका
२४. सद्वारोपदिष्ट ध्यानव्यवहारशास्त्र
२५. रत्नचूड़सूत्र चतुधर्मोपदेश
२६. मध्यान्तविभागशास्त्र
२७. प्रतीत्यसमुत्पादसूत्रटीका
२८. कर्मसिद्धिप्रकरण
२९. व्याख्यायुक्ति
३०. महायानसूत्रालंकारटीका
३१. अपरिमितायुष्सूत्रोपदेश
३२. बोधिचित्तोपादनशास्त्र

आचार्य स्थिरमति

आचार्य वसुबन्धु के शिष्यों में स्थिरमति का नाम उल्लेख्य है। इनका दूसरा नाम सारमति था। ये मध्यभारत के किसी ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। इनका काल पांचवीं शताब्दी का अन्तिम भाग माना जाता है। दार्शनिक कवि अश्वघोष द्वितीय इनके समकालीन थे। अपने गुरु आचार्य वसुबन्धु की भांति वे भी शास्त्रार्थप्रेमी थे। उन्होंने त्रिंशिका के विषय को स्पष्ट करते हुए उस पर भाष्य लिखा। ह्वेनसांग के विवरण से प्रकट होता है कि इनका कार्यक्षेत्र दक्षिण-भारत था जहाँ रहकर उन्होंने महायानधर्मधातुअविशेषशास्त्र तथा महायानोत्तर-तन्त्रशास्त्र नामक दो ग्रन्थों की रचना की।[1]

---

१. A historical study.........R. Kimura. pp. 182–83.

वस्तुकथा

विषयप्रवेश—विज्ञानवाद दर्शन के अनुसार विज्ञान को एक मात्र सत् माना गया है। चित्त, मन, विज्ञप्ति आदि विज्ञान के पर्याय हैं। इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थ की वास्तविक सत्ता नहीं है। वाह्य जगत् में जिन-जिन विषयों की उपलब्धि होती है तथा जिन्हें मनुष्य विविध वस्तुओं के नाम से अभिहित करता है, वे सभी मायामरीचिका के समान निःस्वभाव तथा स्वप्न के समान निरुपाख्य हैं।[1] उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। विज्ञान ही तदाकार प्रतिभासित होता रहता है। इस तथ्य का उद्घाटन करते हुए आचार्य वसुवन्धु ने विंशतिका के प्रारम्भ में कहा है कि "समस्त भासमान विषयों के असत् होने के कारण सव कुछ विज्ञप्ति मात्र ही है"[2]। पुनः त्रिंशिका में उन्होंने दर्शाया है कि "आत्मा तथा धर्मसम्वन्धी जो विविध प्रकार के उपचार किए जाते हैं, वे विज्ञान परिणाम के अन्तर्गत हैं"[3]। उनमें कोई भी सत् वस्तु नहीं है। संक्षेपतः कामलोक, रूपलोक तथा अरूपलोक से कथित त्रिलोकी विज्ञान का विजृम्भण मात्र है।

विज्ञान के परिणाम

विज्ञान तत्त्वतः एक प्रवाहरूप होते हुए भी तीन रूपों में अभिव्यक्त होता है। ये तीन रूप इसके परिणाम कहे जाते हैं। वे हैं—विपाक, मनन तथा विषयविज्ञप्ति।[4] विपाक को आलयविज्ञान, मनन को क्लिष्टमन या सप्तमविज्ञान, तथा विषयविज्ञप्ति को प्रवृत्तिविज्ञान कहते हैं। इस प्रकार आलयविज्ञान, क्लिष्टमन, चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान, कायविज्ञान तथा मनोविज्ञान नामक विज्ञान के आठ भेद होते हैं। इनमें चक्षुरादि छ विज्ञान स्थविरवाद तथा सर्वास्तिवाद परम्पराओं में भी स्वीकृत हैं पर आलयविज्ञान एवं क्लिष्टमन की कल्पना विज्ञानवाद की अपनी विशेषता है। प्रकृत प्रसंग में विज्ञान के स्वरूप की चर्चा इष्ट होने के कारण इसके उक्त परिणाम व्याख्येय हैं।

आलयविज्ञान

आलय शब्द का अर्थ गृह, स्थान या आधार होता है।[5] "जो जानता

---

१. केशोण्ड्रुकप्रख्यमिदं मरीच्युदकविभ्रमात् ।
त्रिभवं स्वप्नमायाख्यं..............।। लं०, २,१५०.

२. विज्ञप्तिमात्रमेवैतदसदर्थावभासनात् । विं० का०, १.

३. आत्मधर्मोपचारो हि विविधो यः प्रवर्तते ।
विज्ञानपरिणामेऽसौ..............।। त्रिं० का०, १.

४. विपाको मननाख्यश्च विज्ञप्तिर्विषयस्य च । त्रिं० का०, २.

५. आलयः स्थानमिति पर्यायौ । वि० सि०, ३६.

है वह विज्ञान है।''[1] अतः वह विज्ञान जो अन्य विज्ञानों का आधार या उत्पत्तिस्थान है, वह आलयविज्ञान कहलाता है। आलयविज्ञान वस्तुतः मूलविज्ञान है। इसी के आश्रय से अन्य विज्ञानों की प्रवृत्ति होती है। जिस प्रकार सागर का एक स्तर वह होता है जो अन्तः में आधार सा अनाविल रूप से प्रवाहरत रहता है तथा दूसरा स्तर वह है जो उस पर आश्रित हो पवनप्रकम्पित तथा वीचिसमाकुल रहता है; उसी प्रकार विज्ञान के प्रशान्त भाव से प्रवाहरत आधाररूप अंश को आलयविज्ञान तथा विविध वासनाओं से प्रेरित एवं विषयतरंगसमाकुल अंश को प्रवृत्तिविज्ञान कहते हैं। स्पष्ट शब्दों में यों कहा जा सकता है कि यह आधार इसलिए है क्योंकि सभी धर्म अर्थात् विज्ञान इसमें कार्यभाव से उपनिबद्ध होते हैं या यह सभी धर्मों में कारणभाव से उपनिबद्ध होता है[2]। 'यही सभी धर्मों का आश्रय अनादिकालिक धातु है, जिसके होने से संसार की प्रवृत्ति या निर्वाण की प्राप्ति होती है[3]।

आलयविज्ञान की व्याख्या गृहरूप में भी की जा सकती है। गृह वह है जिसमें वस्तुयें संचित रहती हैं। इस अर्थ में विज्ञान गृह का काम करता है। विविध गति एवं योनियों को प्राप्त सत्त्वों के जीवन में प्रतिक्षण विज्ञानों की उत्पत्ति एवं च्युतिक्रम देखा जाता है। इसे कर्म भी कहते हैं।[4] वे कुशल तथा अकुशल दोनों प्रकार के होते हैं। जिस किसी क्षण जो विज्ञान उत्पन्न होता है, वह आलय में अपना तद्रूप संस्कार छोड़ जाता है। इन्हीं संस्कारों को विपाक या वासना कहते हैं। वे सभी कर्मों की वासनायें आलयविज्ञान में संचित होती हैं। ''जिस प्रकार जलप्रवाह अपने में व्याप्त तृणकाष्ठ-गोमयादि को लिए हुए प्रवाहरत रहता है, उसी प्रकार आलयविज्ञान भी कुशल, अकुशल तथा आनेञ्ज्य संस्कारों से अनुगत हो गतिशील रहता है।[5] इस प्रकार वासनाओं का संग्रह स्थान होने के कारण यह आलय अर्थात् गृह कहा जा सकता है।

पुनः कारिका में आलयविज्ञान को विपाक तथा सर्वबीज कहा गया है— ''विपाकः सर्वबीजकम्''।[6] विपाक, वासना, संस्कारादि एकार्थक शब्द हैं। अनादि

---

१. विजानातीति विज्ञानम्। वि० सि०, ३६.

२. त्रि०, ३६.

३. अनादिकालिको धातुः सर्वधर्मसमाश्रयः।
तस्मिन् सति गतिः सर्वा निर्वाणाधिगमोऽपि वा॥ वि० सि०, ८४.

४. पुण्यापुण्यानेञ्ज्यचेतना कर्म,। वि० सि०, ८२.

५. वि० सि०, ४३.

६. त्रि० का०, २.

काल से जिन वासनाओं का संचय होता है उन्हीं का संचिताकार रूप आलयविज्ञान है। इस प्रकार 'सभी धातु, गति, योनि एवं जातियों में कुशल एवं अकुशल कर्मों का विपाक होने के कारण यह विपाक कहलाता है'।[1]

वासना को कर्मबीज भी कहते हैं। विविध विज्ञानों या कर्मों की जो वासनायें संचित होती हैं, वे संचित हो ध्वंस या स्थिर भाव को नहीं प्राप्त करती हैं। वे भी प्रवाहरत रहती हैं। प्रवाहरत होने का यहां अभिप्राय यह है कि वे वीज बनकर तद्रूप विज्ञान को उत्पन्न करती हैं। यथा एक वार घटविज्ञान हुआ। उसकी वासना आलयविज्ञान में एकत्र हुई। वह वासना वहाँ घटविज्ञान का वीज वन गई। उसके कारण पुनः घटविज्ञान उत्पन्न हुआ। उसकी भी वासना पुनः संचित हुई तथा अन्य घटविज्ञान की उत्पत्ति में वीज का काम किया। इस प्रकार आलयविज्ञान जो इन वासनाओं का संचयिता तथा संचितरूप है वह अन्य विज्ञानों की उत्पत्ति में वीज रूप से काम करने के कारण सर्वबीज कहलाता है।

आलयविज्ञान के चैतसिक

विज्ञान या चित्त के कथन मात्र से ही उसके सहधर्मियों की चर्चा आवश्यक सी हो उठती है। विज्ञान के ऐसे सहभू एवं सहधर्मियों को चैतसिक कहा जाता है। एक ही चैतसिक सभी प्रकार के विज्ञानों के साथ नहीं रहता है अपितु उनके स्वरूप के अनुसार तदनुकूल विज्ञानों के साथ उनका योग होता है। आलयविज्ञान के साथ केवल पाँच सर्वत्रगामी चैतसिकों का संप्रयोग देखा जाता है। वह सर्वदा उनसे अनुगत रहता है। वे पांच चैतसिक हैं—स्पर्श, मनस्कार, वेदना, संज्ञा तथा चेतना।

आलयविज्ञान की वेदना

वेदना को वित् कहते हैं। वह अनुभवनलक्षण वाली होती है। उसकी प्रवृत्ति आह्लादक, परितापक या इन दोनों से भिन्न, तीन प्रकार की होती है, जिन्हें सुखावेदना, दुःखावेदना तथा उपेक्षावेदना कहते हैं। शुभ कर्मों के फलस्वरूप सुखात्मक, अशुभ कर्मों के कारण दुःखात्मक तथा शुभ एवं अशुभ कर्मों के विपाक से अदुःखात्मक असुखात्मक अनुभव होते हैं। इनमें सुख अनुभव वह है जिसके उत्पन्न होने से उससे वियोग की इच्छा न हो तथा जिसके नष्ट होने से संयोग की इच्छा हो। इसके विपरीत दुःख अनुभव वह है जिसके उत्पन्न होने से उससे वियोग की इच्छा हो तथा जिसके नष्ट होने

---

१. सर्वधातुगतियोनिजातिपु कुशलाकुशलकर्मविपाकत्वाद् विपाकः।
वि० सि०, ३६.

से संयोग की इच्छा न हो। जिसके उत्पन्न होने या विनष्ट होने से संयोग या वियोग की इच्छा न हो, उसे अदुःख–असुखात्मक अनुभव कहते हैं। आलय-विज्ञान शुभ एवं अशुभ कर्मों का विपाक है। उसके ऐसा होने के कारण इसमें सुखा या दुःखा वेदना नहीं रह सकती है। अतः उपेक्षावेदना ही आलयविज्ञान की वेदना कही जा सकती है।[1]

आलयविज्ञान का आलम्बन

विज्ञान का अर्थ है 'जो जानता है'—'विजानातीति विज्ञानम्'।[2] वह किसे जानता है? विषय को,—यह इसका उत्तर हो सकता है। जब विषय को जानना विज्ञान है, तो आलयविज्ञान के विज्ञान होने के कारण इसका विषय बतलाना चाहिए। इसका उत्तर है कि आलयविज्ञान निरालम्बन नहीं है अपितु अपरिच्छिन्न आलम्बन वाला है। अपरिच्छिन्न का अर्थ है अनिश्चित अर्थात् अपरिमित। ऐसा क्यों? आलयविज्ञान आध्यात्मिक एवं बाह्य दो रूपों में प्रवृत्त होता है। आध्यात्मतः प्रवृत्ति उपादानविज्ञप्ति के रूप में तथा बाह्यतः अपरिच्छिन्नाकार-भाजन-विज्ञप्ति के रूप में होती है। आत्मादिविकल्पवासना तथा रूपादिविकल्पवासना को उपादानविज्ञप्ति कहते हैं। भाजनलोकसन्निवेशविज्ञप्ति को स्थानविज्ञप्ति कहते हैं। इन रूपों से प्रवृत्त होते हुए आलयविज्ञान का आलम्बन अति सूक्ष्म तथा अपरिच्छिन्न होने के कारण असंविदित कहलाता है।

आलयविज्ञान का स्वरूप

विज्ञानवाद के अनुसार नैतिक दृष्टि से धर्म चार प्रकार के होते हैं—कुशल, अकुशल, निवृताव्याकृत तथा अनिवृताव्याकृत। धर्मों का ऐसा विभाजन हेतु के आधार पर होता है। हेतु को मूल, कारण या मूलप्रवृत्ति कहते हैं। वे मुख्यतया दो प्रकार के होते हैं—कुशल हेतु तथा अकुशल हेतु। कुशल हेतु पुनः तीन प्रकार के होते हैं—अलोभ, अद्वेष तथा अमोह। इसी प्रकार लोभ, द्वेष तथा मोह अकुशल हेतु के तीन भेद हैं। कुशल हेतुओं से सम्प्रयुक्त धर्म कुशल तथा अकुशल हेतुओं से सम्प्रयुक्त अकुशल कहलाते हैं।[3] यहाँ धर्म शब्द से विज्ञान या कर्म अभिप्रेत हैं। अव्याकृतधर्म कुशल या अकुशल किसी भी हेतु से सम्प्रयुक्त नहीं

---

१. उपेक्षैवालयविज्ञाने वेदना, न सुखा, न दुःखा। वि० सि०, ४२.

२. वि० सि०, ३६.
आरम्मणं चिन्तेतीति चित्तं, विजानातीति अत्थो। अ० सा०, ५३.

३. अलोभाद्वेषामोहैः संप्रयुक्ता कुशला, लोभद्वेषमोहैः सम्प्रयुक्ताऽकुशला, कुशलाकुशलैरसंप्रयुक्ता अद्वया। वि० सि०, ५१.

रहते हैं। अव्याकृत धर्म के ही दो भेद होते हैं—अनिवृत्ताव्याकृत तथा निवृत्ताव्याकृत। आगन्तुक उपक्लेशों से आवृत न होने के कारण वे अनिवृत्ताव्याकृत तथा आवृत होने के कारण निवृत्ताव्याकृत कहलाते हैं। धर्मों के स्वरूप की इस पृष्ठभूमि में आलयविज्ञान के स्वरूप पर विचार करने से वह अनिवृताव्याकृत सिद्ध होता है। वह अव्याकृत इसलिए है—क्योंकि वह 'अद्वय' अर्थात् विपाक है।[1] साथ ही उस अवस्था में आगन्तुक उपक्लेशों से आवृत नहीं होने के कारण अनिवृत्ताव्याकृत है—'अनिवृताव्याकृतं च तत्'।[2]

आलयविज्ञान की व्यावृत्ति

कहा जाता है कि आलयविज्ञान प्रवाह की भांति संसार की स्थिति पर्यन्त अव्यवच्छिन्न गति से प्रवृत्त होता रहता है। कारण तथा कार्य की निरन्तर प्रवृत्ति ही प्रवाह है। अतः जब तक संसार की प्रवृत्ति है तब तक आलय की भी गति है। संसारप्रवृत्ति का उपरम अर्हत्व के अधिगम के साथ हो जाता है। यह अर्हत्व क्या है? क्षयज्ञान तथा अनुत्पत्तिज्ञान से अर्हत्व की प्राप्ति होती है। इसकी प्राप्ति के साथ साथ आलयविज्ञान की व्यावृत्ति हो जाती है।[3] व्यावृत्ति शब्द का अर्थ नाश या उच्छेद नहीं है अपितु आश्रयपरावृत्ति या परिणति को व्यावृत्ति कहते हैं। अर्हत्व की प्राप्ति से आलयस्थित सभी दौष्ठुल्यों का निरवशेष प्रहाण हो जाने के कारण उसकी उस रूप से अन्य रूप में परिणति हो जाती है। दौष्ठुल्यों अर्थात् क्लेशों के साथ विद्यमान वह आलयविज्ञान कहलाता है। यहाँ क्लेशों के अशेष प्रहाण से वह विमलविज्ञान के रूप में उद्भूत होता है। यह आलय विज्ञान से विमलविज्ञान में परिणति ही आश्रयपरावृत्ति या व्यावृत्ति कहलाती है।

तु० करें :—तीणि कुसलमूलानि अलोभो अदोसो अमोहो, तं सम्पयुत्तो वेदनाक्खन्धो, सञ्ञाक्खन्धो, संखारक्खन्धो, विञ्ञाणक्खन्धो, तं समुट्ठानं कायकम्मं, वचीकम्मं, मनोकम्मं, इमे धम्मा कुसला। ध० सं०, २२९.

तीणि अकुसलमूलानि—लोभो दोसो-मोहो...अकुसला। ध० सं०, २२९.

१. कुशलाकुशलाद्वया। त्रि० का०, ८

कुसलाकुसलानं धम्मानं विपाका कामावचरा रूपावचरा, अरूपावचरा, अपरियापन्ना; वेदनाक्खन्धो, सञ्ञाक्खन्धो, संखारक्खन्धो, विञ्ञाणक्खन्धो, ये च धम्मा किरिया नेव कुसला नाकुसला न च कम्मविपाका; सब्बं च रूपं, असंखता च धातु—इमेधम्मा अव्याकता। ध० सं०, २२९.

२. त्रि० का०, ४.

३. तस्य व्यावृत्तिरर्हत्वे। वि० का०, ५.

क्लिष्टमन या मनन

विज्ञान का द्वितीय परिणाम मनन है। मनन को क्लिष्टमन या सप्तम-विज्ञान भी कहते हैं। यह विज्ञान आलयविज्ञान तथा प्रवृत्तिविज्ञान के बीच की कड़ी है। यह स्वभावतः 'मननात्मक होने के कारण मनन' कहलाता है।[1] इसका आश्रय आलयविज्ञान है। उसी पर आधृत होकर यह प्रवृत्त होता है। या यों कहें कि—'जिस धातु या भूमि में आलयविज्ञान विपाक है, वह क्लिष्टमन भी उसी धातु एवं भूमि वाला है। अतः प्रतिबद्ध वृत्ति वाला होने के कारण उसके आश्रय से प्रवृत्त होता है'।[2] इसका आलम्बन आलयविज्ञान है। यहाँ द्रष्टव्य है कि समान आश्रय होने पर भी आलय से इसका पार्थक्य है। यह पार्थक्य इसके मननात्मक स्वभाव के कारण जाना जाता है। यह मननात्मक क्या है? मननात्मक होने का अर्थ है 'मैं' 'मेरा' (अहं, मम) आदि भावनाओं से उपेत होकर प्रवृत्त होना। इसका ऐसा स्वभाव होने के कारण ही आलय के आश्रय से अहंकार, ममकार, आत्मदृष्टि आदि का उदय होता है।

पूर्व में कहा जा चुका है कि यह आलय की भूमिवाला है। फलतः इसमें भी वे पांच सर्वगामी चैतसिक पाये जाते हैं जिनसे आलयविज्ञान सम्प्रयुक्त रहता है। पर इसके निवृत्तात्मक होने के कारण वे चैत भी निवृत्ताव्याकृत हैं। आलय से इसके पार्थक्य का दूसरा कारण इसका चार उपक्लेशों से उपेत होना है। वे हैं—आत्मदृष्टि, आत्ममोह, आत्ममान तथा आत्मस्नेह। यह सर्वदा इन चार निवृत्ताव्याकृत क्लेशों से युक्त हो उपादानस्कन्धों में आत्मदृष्टि या अन्यान्य अहंकार-ममकारात्मक दृष्टियों का जनक बनता है। इसकी गति अर्हत भूमि के नीचे अर्थात् लोकीय भूमि तक ही है। अन्यान्य क्लेशों के समान अर्हत को क्लिष्टमन नहीं होता है। निरोधसमापत्ति तथा लोकोत्तर मार्ग में भी इसकी गति नहीं है। इसका कारण बतलाते हुए कहा गया है कि नैरात्म्यदर्शन आत्म-दर्शन का प्रतिपक्षी है। पक्ष प्रतिपक्ष दोनों एक साथ नहीं रह सकते हैं, अतः यह लोकोत्तर मार्ग में निरुद्ध हो जाता है।[3]

प्रवृत्तिविज्ञान

विज्ञान का तृतीय परिणाम विषयोपलब्धि है। इसे प्रवृत्तिविज्ञान भी कहते हैं। यह छ प्रकार का होता है। यथा—चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान,

---

१. तदालम्ब्यं मनो नाम विज्ञानं मननात्मकम्। त्रि० का०, ५.

२. वि० सि०, ४५.

३. वि० सि०, ४९.

जिह्वाविज्ञान, कायविज्ञान तथा मनोविज्ञान। रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य तथा धर्म छ विषय अवभास हैं। उनकी उपलब्धि, ग्रहण या प्रतिपत्ति विषयोपलब्धि है।[१] ये छ विज्ञान कुशल, अकुशल तथा अव्याकृत होते हैं। साथ ही सर्वत्रग, विनियत, कुशल, क्लेश तथा उपक्लेशों तथा त्रिविध वेदनाओं से प्रवृत्तिक्रम में यथायोग्य सम्प्रयुक्त होते हैं।[२]

परिणामों का पारस्परिक सम्बन्ध

आलयविज्ञान, क्लिष्टमन तथा प्रवृत्तिविज्ञान अपने-अपने कार्यविशेष के कारण पृथक् प्रतीत होते हुए भी एक ही विज्ञानप्रवाह के अन्तर्गत हैं। आलयविज्ञान मूल विज्ञान है। उसी के आश्रय से अन्यान्य विज्ञानों की प्रवृत्ति होती है। इनका यह सम्बन्ध समुद्र तथा उसके तरङ्गों जैसा है। आलयविज्ञान समुद्र है तथा अन्य विज्ञान तरंग हैं। जिस प्रकार पवन से प्रेरित हो समुद्र पर तरंगें नृत्य करती हैं, उसी प्रकार वासनाप्रेरित विविध विज्ञानों का आलय पर नर्तन होता है। अतः यहाँ ज्ञातव्य है कि जिस प्रकार तरंगें समुद्ररूप से न तो भिन्न हैं, न अभिन्न ही, उसी प्रकार सप्तविज्ञान आलयविज्ञान से न तो भिन्न ही है, न अभिन्न ही। मृत्तिका एवं घट तथा स्वर्ण एवं आभूषण के सम्बन्ध से भी इनका सम्बन्ध समझा जा सकता है।

इनके ऐसे सम्बन्ध को सकारण समझाते हुए पुनः कहा गया है कि—यदि इन्हें आलयस्वरूप माना जाय तो इनके निरुद्ध हो जाने पर आलयविज्ञान का भी निरोध हो जाना चाहिए, जो वस्तुतः नहीं होता है। पुनः यदि इन्हें आलयविज्ञान से भिन्न माना जाय तो इनका कारण या आश्रय वह नहीं हो सकता है, जो वास्तव में है। अतः सातों विज्ञानों को न तो आलयस्वरूप, न आलयभिन्न ही कहा जा सकता है।

लंकावतारसूत्र में इनके स्वरूप की चर्चा करते हुए इन्हें चित्त, मन, विज्ञान तथा पञ्चेन्द्रियविज्ञान की संज्ञा दी गयी है। कहा गया है कि—

> चित्तेन चीयते कर्म मनसा च विधीयते।
> विज्ञानेन विजानाति दृश्यं कल्पेति पञ्चभिः॥

'पञ्चेन्द्रियविज्ञान अर्थात् चक्षुर्विज्ञानादि के द्वारा विषय की वासनोपलब्धि होती है, मनोविज्ञान द्वारा विषय की विचारोपलब्धि होती है तथा विशिष्ट

---

१. षट्प्रकारस्य रूपशब्दगन्धरसस्प्रष्टव्यधर्मात्मकस्य विषयस्य या उपलब्धिर्ग्रहणं प्रतिपत्तिरित्यर्थः। वि० सि०, ५०.

२. सर्वत्रगैर्विनियतैः कुशलैश्चेतसैरसौ।
संप्रयुक्ता तथा क्लेशैरुपक्लेशैस्त्रिवेदना॥ त्रि० का०, ९.

मनोविज्ञान द्वारा विषय का ज्ञान होता है और इन सबके पीछे आधारभूत चयनशील या एकीकरणशील आलयविज्ञान या चित्त (Synthetic unity of apperception) की सत्ता है'[१]।

यहाँ चित्त, मन, विज्ञान तथा पञ्चेन्द्रियविज्ञान क्रमशः आलयविज्ञान, क्लिष्टमन, मनोविज्ञान तथा चक्षुर्विज्ञानादि पाँच विज्ञानों के लिए प्रयुक्त हैं। क्लिष्टमन, आलयविज्ञान तथा मनोविज्ञान के बीच की कड़ी है। श्रीयामाकामी सोगेन महोदय[२] ने इन्हें राजा, सचिव तथा द्वारपाल के दृष्टान्त से समझाया है। आलयविज्ञान को राजा, क्लिष्ट मन को सचिव तथा अन्य छ विज्ञानों को द्वारपाल बतलाया गया है। जिस प्रकार राजा का दर्शनकामी पुरुष पहले द्वारपाल से मिलता है, वह उसकी सूचना सचिव को देता है तथा सचिव उस संबाद को राजा तक पहुँचा देता है; उसी प्रकार षट् विज्ञानों द्वारा विषय का ग्रहण, क्लिष्टमन द्वारा समुद्ग्रहण तथा आलयविज्ञान द्वारा संधारण कृत्य होता है— ऐसा समझना चाहिए।

विज्ञानोत्पत्तिक्रम

अब यहाँ विचार्य है कि आलय से अन्य विज्ञानों की उत्पत्ति कैसे होती है। आलयविज्ञान सबका बीज एवं आश्रय कहलाता है। इसे लक्ष्य कर प्रश्न यह होता है कि जब आलय में सभी विज्ञानों के बीज विद्यमान रहते हैं तो एक ही साथ एक ही क्षण में सभी विज्ञानों की उत्पत्ति क्यों नहीं हो जाती है। या यों कहें कि सभी प्रकार के ज्ञानबीजों के वहाँ सर्वदा विद्यमान रहने के कारण सभी वस्तुओं का ज्ञान एक ही साथ तथा एक ही काल में क्यों नहीं होता है। इसका उत्तर है कि विज्ञानों की उत्पत्ति उनके कारणों की विद्यमानता पर निर्भर करती है। यदि एक समय एक विज्ञान का कारण सन्निहित रहता है तो उस समय केवल एक ही विज्ञान उत्पन्न हो सकता है। यदि दो या अधिक विज्ञान के कारण सन्निहित रहते हैं, तो दो या अधिक भी विज्ञान उत्पन्न हो सकते हैं।[३] कहा गया है कि—'यथा जल के बहुत बड़े प्रवाह में एक तरंग का कारण उपस्थित रहने पर एक ही तरंग उत्पन्न होता है; दो, तीन या बहुत से तरंगों की उत्पत्ति के कारण यदि उपस्थित हों, तो बहुत से तरंग उत्पन्न होते हैं; उसी प्रकार आलयविज्ञान के आश्रय से यदि एक चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति का

१. लं०, ४६, बौ० वे०, ७३.

२. Systems of Buddhist thought, p. 2!6.

३. पञ्चानां मूलविज्ञाने यथाप्रत्ययमुद्भवः।
विज्ञानानां सह न वा तरङ्गाणां यथा जले॥ त्रि० का०, १५.

कारण उपस्थित रहता है, तो एक ही चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है। यदि तीन या पांचों विज्ञानों के उत्पत्ति के कारण विद्यमान रहते हैं, तो एक साथ पाँचों विज्ञानों की उत्पत्ति हो सकती है'।[1]

पुनः यहाँ शंका यह होती है कि सभी विज्ञानों के वीज तो वहाँ रहते ही हैं तो कारण उपस्थित होने का क्या अर्थ है? इसका उत्तर है कि यह ठीक है कि आलयविज्ञान में विज्ञानबीज या वासनायें विद्यमान रहती हैं पर तब तक उन वासनाओं के कारण विज्ञान नहीं उत्पन्न हो सकता है जब तक उनका परिपाक नहीं हो पाता है। जिस क्षण जिस वासना का परिपाक हो जाता है, उसी क्षण तज्जनित विज्ञान की उत्पत्ति हो पाती है।[2] वासना का परिपाक कुशल या अकुशल कर्मों के कारण होता है। यस्मात् सभी वासनाओं का परिपाक एक समय नहीं होता है, अतः सभी विज्ञानों की उत्पत्ति युगपद् नहीं होती है।

चैतसिक

विज्ञान के त्रिविध परिणाम के कथन के अनन्तर उससे सम्प्रयुक्तधर्म चैतसिकों का वर्णन आवश्यक है। चित्त के सहयोगी एवं उपकारक धर्मों का नाम चैतसिक है। इनकी परिभाषा करते हुए कहा गया है कि—'चित्त से सम्प्रयुक्त उन वावन धर्मों को चैतसिक कहते हैं, जो चित्त के साथ ही उत्पन्न होते हैं, साथ ही निरुद्ध होते हैं, दोनों का एक ही आलम्बन तथा वत्थु भी एक ही रहता है'।[3] कहने का तात्पर्य यह कि जब चित्त उत्पन्न रहता है तब चैतसिक भी उत्पन्न रहते हैं। जब चित्त निरुद्ध हो जाता है तब चैतसिक भी निरुद्ध हो जाते हैं। जिस विषय को लेकर चित्त की प्रवृत्ति होती है, वही विषय चैतसिकों का भी रहता है तथा दोनों के काम करने का स्थान एक ही होता है। संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि वे धर्म जो चित्त की उत्पत्ति स्थिति आदि में सहजात, सम्प्रयुक्त, तथा अन्यमन्य प्रत्यय से उपकारी हैं, वे चैतसिक कहलाते हैं।[4]

चैतसिकों की संख्या सर्वत्र एक नहीं है। एक दर्शन परम्परा में भी उनकी संख्या में अन्तर है। विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि के त्रिंशिका प्रकरण में इनकी संख्या एकावन कही गयी है, जो पांच शीर्षको में विभक्त हैं। वे हैं—पांच सर्वत्रग,

---

१. वि० सि०, ७५.

२. निष्यन्दवासनावृत्तिलाभाच्च या प्रवृत्तिविज्ञानानां क्लिष्टस्य च मनस आलयविज्ञानात् अभिनिर्वित्तिः।

३. एकुप्पादनिरोधा च एकालम्बनवत्थुका।
चेतोयुत्ता द्विपञ्ञास धम्मा चेतसिका मता॥ अ० सं०, २.१.

४. अ० सं०, पृ० १९९, २०१, २१८–२१९, २२३.

पांच विनियत, ग्यारह कुशल, छ क्लेश तथा चौबीस उपक्लेश। स्थविरवाद में वे बावन हैं।[1]

सर्वत्रगामी

सर्वत्रग का अर्थ है सभी जगह जाने वाला। सर्वत्र का अभिप्राय आलयविज्ञान, क्लिष्टमन तथा प्रवृत्तिविज्ञान है। अतः वे चैतसिक जो उक्त त्रिविध-विज्ञानपरिणामों में समान रूप से पाये जाते हैं, वे सर्वत्रगामी कहे जाते हैं। वे हैं—स्पर्श, मनस्कार, वेदना, संज्ञा तथा चेतना। स्थविरवाद में ऐसे चैतसिकों को सब्बचित्तसाधारण कहते हैं। वे सभी भूमियों के सभी प्रकार के चित्तों के साथ सम्प्रयुक्त होते हैं।[2] उनकी संख्या सात है। यथा—फस्सो, वेदना, सञ्ञा, चेतना, एकग्गता, जीवितिन्द्रिय, मनसिकार।[3] इनमें एकग्गता तथा जीवितिन्द्रिय त्रिंशिका में नहीं पाये जाते हैं।

विनियत

जो निश्चित रूप से सभी प्रकार के चित्तों में उपलब्ध नहीं होते हैं, वे विनियत कहलाते हैं। आलयविज्ञान तथा क्लिष्टमन में इनका सम्प्रयोग नहीं देखा जाता है। ये केवल प्रवृत्तिविज्ञान के साथ सम्प्रयुक्त होते हैं। वे हैं—छन्द, अधिमोक्ष, स्मृति, समाधि तथा धी। स्थविरवाद में ऐसे चैतसिक पकिण्णक कहे जाते हैं, जिनकी संख्या छ है। वे सभी चित्तभूमियों में पाये जाते हैं पर सभी चित्तों में नहीं। वे हैं—वितक्क, विचार, अधिमोक्ख, विरिय, पीति तथा छन्द।[4] इनमें अधिमोक्ष और छन्द दोनों में समान हैं। सब्बचित्तसाधारण तथा पकिण्णक को अञ्ञसमान कहते हैं।

कुशल

कुशल चैतसिकों की संख्या ग्यारह है। ये स्वरूपतः कुशल होने के कारण समानजातीय कुशलचित्तों के साथ सम्प्रयुक्त होते हैं। वे हैं—श्रद्धा, ह्री, अपत्रपा, अलोभ, अद्वेष, अमोह, वीर्य, प्रश्रब्धि, अप्रमाद, उपेक्षा तथा अहिंसा। स्थविरवाद में इन्हें कुशल या शोभन कहा गया है, जो शोभनसाधारण, विरति,

---

१. तेरसञ्ञसमाना च चुद्दसाकुसला तथा।
सोभना पञ्चवीसा ति द्विपञ्ञास पवुच्चरे॥ अ० सं०, २. ८.

२. चतुपञ्ञासधा कामे रूपे पन्नरसीरये।
चित्तानि द्वादसारुप्पे अट्ठधानुत्तरे तथा॥ अ० सं०, १. २९.

३. अ० सं०, २. २.

४. अ० सं०, २. ३.

अप्रमाण्य, तथा प्रज्ञीन्द्रिय नामक चार शीर्षकों में विभक्त हैं।[1] शोभनसाधारण चैतसिक समान रूप से सभी शोभन चित्तों में उपलब्ध होते हैं। वे उन्नीस हैं—यथा—सद्धा, सति, हिरि, ओतप्प, अलोभ, अदोस, तत्रमज्झत्तता, कायपस्सद्धि, चित्तपस्सद्धि, कायलहुता, चित्तलहुता, कायमुदुता, चित्तमुदुता, कायकम्मञ्ञता, चित्तकम्मञ्ञता, कायपागुञ्ञता, चित्तपागुञ्ञता, कायुज्जुकता, तथा चित्तुज्जुकता। सम्मावाचा, सम्माकम्मन्त तथा सम्माआजीव को विरति कहते हैं। करुणा एवं मुदिता का नाम अप्पमञ्ञा है। पञ्ञा को पञ्ञिन्द्रिय कहते हैं। सभी मिलाकर पचीस शोभन चैतसिक होते हैं।

यहाँ द्रष्टव्य है कि विज्ञानवाद के पाँच चैतसिक श्रद्धा, ह्री, अपत्रपा, अलोभ, तथा अद्वेष समानरूप से स्थविरवाद में प्राप्त होते हैं। अमोह को पञ्ञिन्द्रिय, उपेक्षा को तत्रमज्झत्तता तथा प्रश्रब्धि को कायपस्सद्धि एवं चित्तपस्सद्धि कहा जा सकता है। वीर्य का ग्रहण पकिण्णक शीर्ष में किया गया है। अन्य चैतसिकों का अर्थगत साम्य दर्शाया जा सकता है।

क्लेश तथा उपक्लेश

त्रिंशिका में अकुशल चैतसिकों का कथन क्लेश तथा उपक्लेशों के रूप में किया गया है। मूलभूत अकुशल विकारों को क्लेश तथा उनके आश्रय से उत्पन्न होने वालों को उपक्लेश कहते हैं। राग, द्वेष, मोह, मान, दृष्टि तथा विचिकित्सा—ये छ क्लेश हैं। उपक्लेशों की संख्या चौबीस है। यथा—क्रोध, उपनाह, म्रक्ष, प्रदाश, ईर्ष्या, मात्सर्य, माया, शाठ्य, मद, विहिंसा, अह्री. अत्रपा, स्त्यान, उद्धव, अश्रद्धा, कौशीद्य, प्रमाद, स्मृतिभ्रष्टता, विक्षेप, असंप्रजन्य, कौकृत्य, मिद्ध, वितर्क तथा विचार। स्थविरवाद में अकुशलचैतसिकों की संख्या चौदह है।[2] इनमें मोह, अहिरिक, अनोत्तप्प, तथा उद्धच्च को सभी अकुशल चित्तों[3] में पाये जाने के कारण सर्व-अकुशल-साधारण कहा जाता है। अवशेष लोभ, दिट्ठि, मान, दोस, इस्सा, मच्छरिय, कुकुच्च, थीन, मिद्ध, तथा विचिकिच्छा अकुशल चैतसिक हैं।

यहां द्रष्टव्य है कि स्थविरवाद में जिन चौदह अकुशल चैतसिकों का उल्लेख है, वे सभी विज्ञानवाद के क्लेश तथा उपक्लेशों में विकीर्ण हैं। विज्ञान-

१. अ० सं०, २, ५–७.

२. अ० सं०, २. ४.

३. अट्ठधा लोभमूलानि दोसमूलानि च द्विधा।
मोहमूलानि च द्वे ति द्वादसाकुसला सियुं॥ अ० सं०, १. ७.

वाद के अवशेष सोलह क्लेशोपक्लेश स्थविरवाद में नहीं पाये जाते हैं। दोनों परम्पराओं के चैतसिकों का संक्षिप्त रूप इस प्रकार है :—

विज्ञानवाद		स्थविरवाद	
१. सर्वत्रग	— ५	१. सब्बचित्तसाधारण	— ७
२. विनियत	— ५	२. पकिण्णक	— ६
३. कुशल	—११	३. सोभन	—२५
४. क्लेश	— ६	४. अकुसल	—१४
५. उपक्लेश	– २४		
	५१		५२

विज्ञानपरिणाम और उपचार

कहा जाता है कि 'आत्मा और धर्म सम्बन्धी जो विविध उपचार किये जाते हैं, वे विज्ञानपरिणाम के अन्तर्गत हैं। समस्त उपचार विज्ञानपरिणाम में ही होते हैं, आत्मा और धर्म में नहीं। कारण यह है कि विज्ञानपरिणाम के बाहर आत्मा और धर्म का अभाव है'[१]। यहाँ इस कथन पर विचार किया जाय। इस प्रसंग में सर्वप्रथम उपचार, विज्ञानपरिणाम, आत्मोपचार तथा धर्मोपचार व्याख्येय हैं।

उपचार का अर्थ आरोप है। जहाँ जो पदार्थ नहीं है, वहाँ उसके होने का जो आरोप होता है, उसे उपचार कहते हैं।[२] यथा शुक्तिका में रजत का उपचार होता है जब कि शुक्तिका में वस्तुतः रजत नहीं है। या बाहीक में बैल का उपचार होता है। यह उपचार दो प्रकार से हो सकता है—जानकर या भ्रान्तिवश।

परिणाम का अर्थ है अन्य रूप में हो जाना। अर्थात् 'कारणक्षण के विनाशकाल में ही कार्यक्षण की उत्पत्ति परिणाम है'। विज्ञान स्वरूपतः प्रवाह-रूप है। जिस प्रकार सरितप्रवाह में एक तरंग उठता है, विलीन होता है तथा विलीन होते हुए एक अन्य तरङ्ग की सृष्टि करता है। पुनः वह तरङ्ग भी विलीन होकर एक तृतीय तरङ्ग का कारण बनता है। इस प्रकार कारणकार्य-भाव से आबद्ध जलप्रवाह का तारतम्य देखा जाता है। ठीक इसी अर्थ में विज्ञान की प्रवाहमयता है। इसकी यह प्रवहनशीलता या प्रतीत्यसमुत्पन्नता ही परिणाम शब्द से ज्ञापित है।

---

१. वि० सि०, २८.

२. यच्च यत्र नास्ति तत् तत्रोपचर्यते। वि० सि०, २९.

आत्मप्रज्ञप्ति को आत्मोपचार कहते हैं। आत्मप्रज्ञप्ति का अर्थ है विविध रूपों में आत्मा की कल्पना। आत्मा, जीव, जन्तु, मनुज, मानव आदि आत्मा के उपचार हैं।

धर्मोपचार को धर्मप्रज्ञप्ति कहते हैं। धर्म का अभिप्राय यहाँ बाह्यविषयों से है। ज्ञान या कल्पना को प्रज्ञप्ति कहते हैं। अतः विज्ञान से भिन्न जो विविध प्रकार की वस्तुओं के होने की कल्पना है, वह धर्मप्रज्ञप्ति है। स्कन्ध, आयतन, धातु, रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान आदि धर्मोपचार हैं।

'ये जो विविध प्रकार के आत्मोपचार तथा धर्मोपचार होते हैं, वे विज्ञान-परिणाम के अन्तर्गत हैं'—इस तथ्य को लक्ष्य करके प्रश्न होता है कि जब विषयों का वाह्य अस्तित्व है ही नहीं तो उनका वैसा ज्ञान क्यों होता है ? इसका उत्तर है कि ऐसी प्रतीति वासना के कारण होती है। अनादि काल से कर्मवासनाओं का संचय आलयविज्ञान में होता आ रहा है। ऐसी आत्मादि-विकल्पवासना तथा रूपादि-विकल्पवासना की परिपुष्टि के कारण आलय-विज्ञान से आत्मादि के आकार वाले तथा रूपादि के आकार वाले विकल्प उत्पन्न होते हैं। उन आत्मादि तथा रूपादि प्रतीतियों को वैसे विकल्पों से पृथक् जैसा मानकर आत्मादि तथा रूपादि धर्मों का आरोप अनादि काल से उन धर्मों के वाह्य अस्तित्व के बिना ही होता आ रहा है। उनके वाह्य अस्तित्व के बिना ही तद्वत् अनुभूति का होना वैसा ही है, जैसे तिमिरव्याधि से ग्रस्त मनुष्य को केशगुच्छादि के दर्शन होते है, जो वस्तुतः विद्यमान नहीं है। इससे यह फलित होता हैं कि सभी प्रतीतियां वासनाजनित भ्रान्त हैं। विज्ञान के अतिरिक्त आत्मा या धर्मों का कहीं अस्तित्व नहीं है।

इस पर पुनः प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यह कैसे जाना जाय कि बाह्य आलम्बन असत् हैं ? यह क्यों मान लिया जाय कि विज्ञान विषय से निरपेक्ष होकर उत्पन्न होता है ? इसका उत्तर यह है कि ऐसा अनुभव से सिद्ध है। बात यह है कि जो जिसका कारण है उसके समग्र एवं अविरूद्ध होने पर कार्य की उत्पत्ति होती है, दूसरों से नहीं। यदि विज्ञान की उत्पत्ति बाह्य आलम्बन पर निर्भर है तो उनके विद्यमान रहने पर ही विज्ञान को होना चाहिए। पर देखा जाता है कि माया, गन्धर्वनगर आदि असत् हैं। उनमें सत् आलम्बन के अभाव में भी तद्विषयक विज्ञान उत्पन्न होता है। यदि विज्ञान की उत्पत्ति आलम्बन पर निर्भर करती तो मायादि वस्तुओं के न होने के कारण तदाकार विज्ञान नहीं होता। यस्मात् वस्तु के असत् होने पर इसका होना सिद्ध है, अतः यह फलित होता है कि विज्ञान बाह्यालम्बन पर नहीं निर्भर करता है। वह विषय निरपेक्ष वासना के कारण होता है।

इस मान्यता पर पुनः कुछ लोग संभवतः शून्यवादी ऐसा आक्षेप करते हैं कि जिस प्रकार ज्ञेयपदार्थ अस्तित्वविरहित हैं, उसी प्रकार ज्ञान को भी समझना चाहिए। इसके परिहार में कहा जा सकता है कि यदि ज्ञान भी नहीं है तो भ्रान्ति होती किसमें है ? भ्रान्ति होने का भी तो आधार होना चाहिए। अतः विज्ञानपरिणाम को तो अवश्य वास्तविक मानना चाहिए जिसके अन्तर्गत आत्मा एवं धर्म के उपचार होते हैं। विज्ञेयवत् विज्ञान को भी सांवृतिक मानने से विज्ञेयों का संवृतिरूप में भी अभाव प्राप्त होने लगेगा।

इस प्रकार विज्ञान की सत् रूप में यौक्तिक आवश्यकता दर्शाने पर भी सिद्धान्तगत शिथिलता का उपरम नहीं होता है। इस पर पुनः कहा जाता है कि आत्मा तथा धर्म जब नहीं हैं, तो उनकी भ्रान्ति ही कैसे होती है ? अनुभव की बात तो यही है कि जब किसी वस्तु का अस्तित्व है, तब ही तो उसकी अन्य स्थानों में भ्रान्ति होती है। यथा जब सर्प है तब ही उसकी रज्जु में भ्रान्ति होती है।[1] इसलिए आत्मा और धर्म के जो विविध उपचार होते हैं, वे आत्मा और धर्म के रहते हुए ही इष्ट हैं, अन्यथा नहीं। उपचार भी तीन अवस्थाओं में संभव है, किसी भी एक के अभाव में नहीं। वे हैं—मुख्यपदार्थ, उसके समान दूसरा विषय तथा दोनों का सादृश्य।

'यह माणवक अग्नि है'—ऐसा उपचार किया जाता है। यहाँ मुख्य पदार्थ अग्नि है, उसके सदृश बालक है, तथा साधारण धर्म कपिलत्व या तीक्ष्णत्व है। इसे लक्ष्य करके प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यहाँ जो उपचार किया जाता है वह जाति का है या द्रव्य का। यदि यह कहा जाय कि जाति का उपचार होता है, तो यह युक्त नहीं। यहाँ जाति अग्नित्व है जो निराकार वस्तु है। उसके निराकार होने के कारण कपिलत्व या तीक्ष्णत्व उसके धर्म नहीं हो सकते हैं। ऐसे उसका धर्म नहीं होने पर उपचार किसका होगा ? अतः 'जाति का उपचार होता है'—यह कथन अयुक्त है। ऐसा करने से अतिव्याप्ति दोष की प्राप्ति होगी।

इस पर यदि यह कहा जाय कि तीक्ष्णत्व या कपिलत्व भले ही अग्नित्व जाति के धर्म नहीं हैं, फिर भी जाति के बिना नहीं रह सकते हैं; अतः माणवक में अग्नि का उपचार हो सकता है। पर यह कथन भी अयुक्त है। अग्नित्व जाति के बिना भी तीक्ष्णत्व एवं कपिलत्व रह सकते हैं। ये गुण बालक में हैं, पर

---

१. अपि च आरोपितं निषेधनीयम्। आरोपश्च तत्त्वाधिष्ठानो दृष्टो यथा शुक्तिकादिषु रजतादेः। न चेत् किंचिदस्ति तत्त्वं कस्य कस्मिन्नारोपः ?

शां० भा० भा०, ५५८

वहाँ अग्नित्व जाति नहीं है। अतः उक्त युक्ति के आधार पर माणवक में जाति के उपचार की सिद्धि नहीं हो पाती है।

अब प्रकृत प्रसंग को यहां प्राप्त कर यह कहा जाय कि माणवक में द्रव्य का उपचार होता है, तो यह भी युक्त नहीं। इसका कारण यह है कि प्रत्येक द्रव्य का अपना विशिष्ट धर्म होता है। जो धर्म अग्नि का है, वह बालक का नहीं हो सकता है। एक द्रव्य का धर्म दूसरे द्रव्य में नहीं जा सकता है। जो कपिलत्व या तीक्ष्णत्व अग्नि का है, वही बालक का नहीं हो सकता। अतः प्रत्येक की विशेषता अपने-अपने आश्रय में सीमित रहने के कारण अग्नि का माणव में द्रव्योपचार इष्ट नहीं।

इस पर यदि युक्तिपथ यों मोड़ दिया जाय कि अग्नि के गुण का सादृश्य बालक के गुण के साथ है, अतः गुण के सादृश्य के कारण उपचार युक्त हो सकता है। पर यह युक्ति भी उद्देश्यसाधन में सफल नहीं दीखती है। इससे केवल इतना मात्र कहा जा सकता है कि गुण में गुण का उपचार हो भी जाय पर माणवक में अग्नि का तो नहीं। अतएव द्रव्योपचार भी यथार्थता से दूर है।

इस प्रसंग में विज्ञानवाद की मान्यता को शिथिल दर्शाने के लिए उपचार के चर्चाक्रम में परवादी द्वारा मुख्य पदार्थ आदि का उल्लेख है। पर परीक्षा करने से प्रकट होता है कि परवादी द्वारा उपपादित वह मुख्य पदार्थ भी अलीक है। वह मुख्य पदार्थ क्या हो सकता है? जिसको मुख्य पदार्थ कहा जाता है उसका स्वरूप सभी प्रकार के ज्ञानों एवं शब्दों के विषय से परे है। समस्त ज्ञान एवं व्यवहार गुणों पर ही अवलम्बित हैं। जब कभी मुख्यपदार्थ का कथन होता है तो गुणों के सहारे ही। गुणों से ही उसके ज्ञान एवं शब्द की प्रवृत्ति होती है। गुणों का आश्रय द्रव्य वस्तुतः ज्ञान और व्यवहार से अतीत है। ज्ञान और शब्द के अतिरिक्त पदार्थ के स्वरूप को जानने का कोई अन्य साधन भी नहीं है। अतः एतद्विषयक ज्ञान और शब्द के न होने से मुख्य पदार्थ शब्द और ज्ञान का विषय नहीं है,—ऐसा जानना चाहिए। शब्द और ज्ञान गुणकृत हैं। अतः जब सारा शब्दव्यवहार औपचारिक है तब उपचार के लिए विशेष परिस्थिति की आकांक्षा क्यों? अर्थात् उपचार के लिए मुख्यपदार्थ आदि के होने की जो आवश्यकता दर्शायी गयी थी, वह निराधार सिद्ध होती है। साथ ही जो यह कहा गया था कि आत्मा तथा धर्म के होने पर ही उपचार हो सकता है, यह कथन असिद्ध हुआ। आलयविज्ञान, क्लिष्टमन तथा प्रवृत्तिविज्ञान के स्वभाव तथा सम्प्रयोग से जो विकल्प किये जाते हैं,—वे भाजनलोक, आत्मा, स्कन्ध, आयतन, धातु, रूप, शब्दादि वस्तु यथार्थ नहीं हैं—वे सभी विकल्प विज्ञान-परिणाम के अन्तर्गत हैं। अतः यह उक्ति कि—"आत्मा और धर्मसम्बन्धी जो

विविध प्रकार के उपचार किये जाते हैं, वे विज्ञानपरिणाम के अन्तर्गत हैं, विज्ञानपरिणाम से भिन्न आत्मा या धर्म का अस्तित्व नहीं है"—परीक्षा से यथार्थ सिद्ध हुई ।

देशकालादिनियम—आक्षेप और परिहार

विज्ञानवाद की मान्यता के अनुसार जब विज्ञान ही एकमात्र सत् पदार्थ है. वाह्य विषयों का वस्तुतः कुछ भी अस्तित्व नहीं है, तो प्रश्न यह होता है कि ऐसी दशा में देश के नियम, काल के नियम, ज्ञातृसन्तान के अनियम तथा क्रियासम्पादन-सम्बन्धी नियमों का निर्वाह कैसे होता है ? प्रत्येक नियम के सम्यक् निर्वाह के लिए तो विज्ञान के साथ-साथ वाह्यालम्बन की भी आवश्यकता प्रतीत होती है । अतः ये यहाँ विचार्य हैं ।

देश के नियम से स्थानगत नियम अभिप्रेत है । वह इस प्रकार है । जब कभी भी किसी विषय का ज्ञान होता है तो वह किसी देश अर्थात् स्थान विशेष से सम्बन्धित होकर ही होता है । यथा सूर्य का ज्ञान आकाश में प्रकाशमान होते हुए होता है । वृक्षों का ज्ञान पृथ्वी पर स्थित होता है । हरितवर्णाभ उद्भिजों की अवस्थिति की अनुभूति पृथ्वी से सम्बन्धित होती है । अतः जब वाह्य विषयों का कोई अस्तित्व नहीं है तो इन विषयों का ज्ञान सर्वत्र होना चाहिए । क्यों सूर्य का ज्ञान आकाश में ही होता है, सर्वत्र नहीं ? वृक्ष पृथ्वी पर ही क्यों देखे जाते हैं, सर्वत्र क्यों नहीं ? विषयों के असत् होने के कारण जब विज्ञान उनकी किसी प्रकार अपेक्षा नहीं करता है तो उसके होने में स्थानसम्बन्धी कोई नियम नहीं होना चाहिए । अतः वस्तु के अभाव में नियम को स्वीकार करते हुए देशगत नियम का निर्वाह कैसे होता है, यह प्रश्न है ।

कालसम्बन्धी नियम इस प्रकार है । जब कभी भी किसी विषय का ज्ञान होता है तो वह किसी कालविशेष में ही होता है । सूर्य के प्रकाशमान होने का ज्ञान दिन में होता है । चन्द्रमा की चांदनी बिखेरने का समय रात ही समझा जाता है । जब वस्तुस्थिति ऐसी है कि किसी भी वाह्यवस्तु का कोई अस्तित्व नहीं है, सूर्य-चन्द्र आदि असत् पदार्थ हैं, तो उनका ज्ञान सब समय होना चाहिए । अतः प्रश्न है कि विज्ञान की सत् स्वीकृति पर काल के नियम का निर्वाह कैसे होता है ?

तृतीय प्रश्न ज्ञातृसन्तान के अनियम का है । देखा जाता है कि किसी वस्तु का ज्ञान सभी को समान रूप से होता है । घट को सभी लोग जानते हैं कि यह घट है । प्रत्येक मनुष्य जल को जल समझकर ही पीता है । यदि ऐसे ज्ञान यथार्थ नहीं हैं, किसी इन्द्रियदोष के कारण होते हैं, तो एक सा सभी व्यक्तियों को नहीं

होना चाहिए, जैसे तिमिर-व्याधि से ग्रस्त तैमिरिक को ही सर्वत्र द्विचन्द्र-केशगुच्छादि के दर्शन होते हैं, सब को नहीं। ऐसे ही जब घट, पट, गृह, रथादि का ज्ञान भी अवस्तुजन्य है तो ऐसा भ्रम उसी को हो सकता है जिसको इन्द्रियदोष हो, दोषमुक्त को नहीं। यदि इन्द्रियदोष न होने पर भी सभी ज्ञाताओं को ऐसा ज्ञान हो तो कोई भी ज्ञान अभ्रान्त नहीं हो सकता है। अतः समस्त प्रतीयमान वस्तुओं के ज्ञान को भ्रमात्मक स्वीकार करना किसी दोषयुक्त व्यक्ति के लिए युक्त हो सकता है सब के लिए नहीं।

क्रिया से सम्बन्ध चौथे प्रश्न का है। यह अनुभव में देखा जाता है कि जिसका ज्ञान भ्रमात्मक है, उस भ्रम के विषयीभूत वस्तु से यथोचित अर्थक्रियाकारित्व नहीं हो सकता है। रज्जु में भ्रमवश सर्प का ज्ञान होता है। उस ज्ञान का विषयीभूत सर्प दंशनक्रिया नहीं कर सकता है। शुक्तिका में भ्रमवश प्रतीयमान रजत से आभूषणनिर्माण कार्य नहीं हो सकता है। न तो मृगमरीचिका के जल से स्नानपानादिकृत्य किया जा सकता है, न स्वप्न में खाये विष से किसी की मृत्यु ही हो सकती है। इस आधार पर तो बाह्यवस्तुओं के अस्तित्व का सर्वथा अभाव नहीं दर्शाया जा सकता है। बाह्यवस्तुजनित कार्य तो सबको अनुभवगम्य हैं। अन्न तथा जल से क्षुधा-पिपासा की शान्ति सर्वत्र देखी जाती है। सर्पदंशन से असह्यपीड़ा की अनुभूति तथा मृत्यु की कथा जगत्प्रसिद्ध है। जीवन की ऐसी अनुभूतियों की अवहेलना कैसे की जा सकती है? अतः प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जब बाह्यवस्तु का कोई अस्तित्व नहीं है, तो सत् वस्तु से क्रिया के होने तथा असत् वस्तु से न होने का जो अनुभव है, उसकी व्याख्या कैसे की जा सकती है?

विषय से निरपेक्ष विज्ञानमात्र को सत् मानने पर ये चार प्रश्न सामान्यतया किसी भी जिज्ञासु के मन को उद्वेलित कर उठते हैं।[1] वस्तुवादी इन्हें विज्ञानवाद पर आक्षेपरूप से रखते हैं। अतः इनका विज्ञानवाद में परिहार किस रूप में प्राप्त है, यहाँ उल्लेख्य है।

प्रथम प्रश्न, जो देश के नियम का है, उसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि वस्तु के न रहने पर भी देश के नियम का निर्वाह हो सकता है। उदाहरणतः स्वप्न को लिया जा सकता है। स्वप्न में वस्तु का अभाव रहता है पर उसकी प्रतीति में देश के नियम का व्यभिचार नहीं होता है। स्वप्न में भी सूर्य का ज्ञान आकाश में ही होता है। तरुलतादि पृथ्वी पर ही स्थित देखे जाते हैं।

---

१. न देशकालनियमः सन्तानानियमो न च।
न च कृत्यक्रिया युक्ता विज्ञप्तिर्यदि नार्थतः॥ वि० का०, २.

अतः जिस प्रकार वस्तु के अभाव में देशनियम-समन्वित विज्ञान की सिद्धि यहाँ युक्त है, उसी प्रकार जाग्रत अवस्था में भी जानना चाहिए।

द्वितीय प्रश्न का समाधान भी स्वप्न की अनुभूतियों पर आधृत है। स्वप्न में विषय की उपस्थिति नहीं रहती है पर उसका ज्ञान काल के नियम से आवद्ध होकर ही होता है। जब कभी भी किसी को सूर्य के प्रकाशित होने का ज्ञान होता है, तो उसका काल दिन ही रहता है तथा चन्द्रमा का काल रात। यहाँ जिस न्याय से स्वप्न में वस्तु का अभाव होने पर भी काल के नियम का निर्वाह सिद्ध है, उसी प्रकार जाग्रत में भी समझना चाहिए।

तृतीय प्रश्न अर्थात् ज्ञातृसन्तान के अनियम का समाधान कर्मसिद्धान्त के सहारे उपपादित है। कृत कर्मों द्वारा तद्रूप विपाक का संचयन सौगत सिद्धान्त की वात है। कुशल कर्मों का विपाक कुशल तथा अकुशल कर्मों का अकुशल होता है। कुशल विपाक के अनुसार स्वर्ग तथा अकुशल विपाक के कारण नरक जाने की मान्यता प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि पापकर्म करनेवाले मनुष्य मरणोपरान्त नरक में उत्पन्न हो पीव से भरी नदी का दर्शन करते हैं। मनुष्यों में विविधता हो सकती है पर समान पापकर्मों के फलस्वरूप नरक में पूयपूर्ण नदी तथा दण्डधारी नरकपालों का दर्शन समान रूप से करते हैं। नरक में उत्पन्न होकर नारकीय वस्तुओं के दर्शन की वात परवादी को भी मान्य है। पर वास्तविकता यह है कि पूयपूर्ण नदी तथा नरकपालादि असत् है। उनके असत् होने पर भी तदाकार विज्ञान का होना इष्ट है। यस्मात् ऐसा ज्ञान असंख्य नरकगामी सत्त्वों को युगपद् होता है, अतः इस प्रकार की अनुभूति को भ्रामक नहीं कहा जा सकता है। फलतः सिद्ध होता है कि वस्तु के अभाव में ज्ञातृसन्तान के अनियम की व्याख्या उपलब्ध है।

अर्थक्रियाकारित्व से सम्बन्ध रखने वाला चतुर्थ प्रश्न है। इसका समाधान भी स्वप्न की अनुभूतियों के आधार पर देखा जाता है। कहा जाता है कि वाह्यवस्तुओं के नहीं होने पर भी उनसे सम्बन्धित विविध क्रियाओं का होना संभव है। यह व्यावहारिक जीवन में अनुभूत तथ्य है कि स्वप्नावस्था में स्त्री-पुरुष के संयोग बिना भी शुक्रविसर्जन हो जाता है। यहां शुक्रविसर्गक्रिया होती है पर उसके विषयीभूत स्त्रीपुरुषादि असत् हैं। पुनः अकुशल कर्मों के फलस्वरूप नरक में जानेवाले मनुष्य पूय-करीषभरी नदियों तथा दण्डधारी नरकपालों को देखकर भय प्राप्त करते हैं तथा उनके द्वारा दी गयी यातनाओं से सन्तप्त होते हैं। यद्यपि पूयपूर्ण नदी आदि असत् हैं पर उनसे नरकस्थ प्राणियों को भय होता है। यहां भी भूत-प्रेतों के असत् होने पर भी मनुष्यों में भयोत्पत्ति क्रिया होती

है। अतः जिस प्रकार उक्त वस्तुओं के अभाव में क्रियायें संभव हैं, वैसे ही सर्वत्र समझना चाहिए।

इस पर प्रश्न यह होता है कि यह क्यों मान लिया जाय कि नरकपालादि असत् हैं, यह क्यों न मान लिया जाय कि वे भी वास्तविक हैं। इसका उत्तर है कि ऐसा मानना युक्त नहीं है। नरकपालादि एवं नारकीयों में भेद है। नारकीयों की भांति नरकपालादि विविध प्रकार की यन्त्रणाओं का अनुभव नहीं करते हैं। यदि वे भी नारकीयों की भांति नरकस्थ होते तो उन्हें भी विविध यन्त्रणाओं का अनुभव होता। यस्मात् वे नरकजन्य दाहदुःखादि का अनुभव नहीं करते हैं, अतः वे नारकीय नहीं हैं।

इस पर यदि यह कहा जाय कि वहाँ यन्त्रणा देना पारस्परिक होता है। नारकीय नरकपालादि को यन्त्रणा देते हैं तथा नरकपालादि नारकीयों को दुःख देते हैं, तो यह भी युक्त नहीं है। ऐसा होने से नरक व्यवस्था ही संभव नहीं। कारण इस दशा में नारकीयों को भी बृहत्काय भयोत्पादक भयंकर आकृतिवाले स्वीकार करना होगा। पुनः नरकपालादि एवं नारकीयों के तुल्याकृति होने से भय उत्पादन का प्रश्न ही नहीं उठता है :—"तुल्याकृतिप्रमाणवलानां च परस्परं यातयतां न तथा भयं स्यात्"।

इससे यह फलित होता है कि नरकपालादि सत् नहीं हैं। नारकीयों का तज्जन्य भय विज्ञान के कारण होता है। इस प्रकार विज्ञानवादी देशकालादि-सम्बन्धी आक्षेपों का परिहार करते हुए इन नियमों का निर्वाह विषयनिरपेक्ष विज्ञान के सहारे सिद्ध बतलाते हैं—

> देशादिनियमः सिद्धः स्वप्नवत् प्रेतवत् पुनः।
> सन्तानानियमः सर्वैः पूयनद्यादिदर्शने ॥ वि० का०, ३.

आयतनादि के प्रश्न

दूसरा आक्षेप आयतनसम्बन्धी है। कहा जाता है कि भगवान् ने बतलाया है कि—'आयतन हैं'। जब विज्ञानवाद के अनुसार विज्ञान ही रूप-शब्दादि विषयों के रूप में प्रतिभासित होता है, उन विषयों का वास्तविक अस्तित्व नहीं है, तो भगवान् ने ऐसा क्यों कहा है कि—'आयतन हैं'। यस्मात् आगमग्रन्थों में रूपादि आयतनविषयक उपदेश उपलब्ध हैं, अतः इससे यह फलित होता है कि बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व है। यदि इनको असिद्ध माना जाय तो बुद्धवचन मिथ्या हो उठेगा।

इस द्वेल्हक प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि भगवान बुद्ध के जितने उपदेश हैं, वे सभी विनेय जनों के अभिप्रायवश दिये गये हैं। उन उपदेशों के सम्यक्

प० ६६८०
बा०वि०पु०

अवगाहन के लिए उपदेश की पृष्ठभूमि, प्रसंग, श्रोता के अध्याशय, अनुशय, अधिमुक्ति आदि को जानना चाहिए। जहाँ उन्होंने यह कहा है कि 'रूपादि आयतन हैं', वहाँ उनके कथन का यह अर्थ नहीं कि रूपादि आयतनों का वाह्य अस्तित्व है, वल्कि उनके ऐसे कथन भी विज्ञप्तिमात्रता के अनुकूल ही हैं। आयतनों की चर्चा करते हुए चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, रूप, शब्द, गन्ध, रस तथा स्प्रष्टव्य का उल्लेख किया गया है। उस प्रसंग में यह भी कहा गया है कि चक्षु तथा रूप के संसर्ग से चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है, आदि। यहाँ द्रष्टव्य है कि चक्षु तथा रूप के कथन से किसी वाह्य स्थित वस्तु के अस्तित्व की चर्चा नहीं है अपितु विज्ञान में स्थित वीजरूपी वासना के परिपाक होने से रूप-प्रतिभास अर्थात् रूपाकार की उत्पत्ति होती है। यहाँ वासना अर्थात् वीज को चक्षु तथा रूपप्रतिभास अर्थात् आकार को रूप कहा गया है। ऐसा प्रतिभास अनन्त-कालिक वासना के वल से होता रहता है। अतः चक्षु तथा रूप दोनों विज्ञप्ति-मात्रता के अन्तर्गत हैं। इसी प्रकार से अन्य आयतनों को भी समझना चाहिए।

तव भगवान के ऐसे कथन का प्रयोजन क्या हो सकता है? भगवान का यहां एकमात्र उद्देश्य विनेयजनों को पुद्गलनैरात्म्य तथा धर्मनैरात्म्य में प्रवेश कराना है। पुद्गलनैरात्म्य का अर्थ है कि स्कन्ध, आयतन या धातु से अभिव्यक्त जो सत्त्व या पुरुष है, वह विज्ञानमात्र है। उसमें आत्मा नामक किसी भी नित्य वस्तु का सर्वथा अभाव है। या यों कहें कि बुद्धिग्राह्य संस्कृत एवं प्रतीत्य-समुत्पन्न धर्मों का कोई आत्मा नहीं है। उनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। सभी धर्म आत्माविरहित निःस्वभाव एवं स्वतन्त्रसत्ताशून्य हैं। धर्मनैरात्म्य यह दर्शाता है कि घटपटादि जो बाह्यपदार्थ हैं, वे विज्ञान के प्रतिभास मात्र हैं। उनका अपना अस्तित्व नहीं है। रूपनादि लक्षणों से युक्त पदार्थ की उपलब्धि नहीं होती है। चक्षु तथा रूप के सहारे चक्षुर्विज्ञान होने की जो प्रतीति होती है, उसमें द्रष्टा या दर्शनकृत्य का अनुभविता कोई नहीं है।। संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि इन धर्मों में आत्मा या किसी नित्यपदार्थ का सर्वथा अभाव है। इस प्रकार पुद्गल एवं धर्मनैरात्म्य में प्रवेश कराना ही उक्त प्रकार के भगवद्वचन का उद्देश्य समझना चाहिए।

यहाँ पर प्रश्न किया जा सकता है कि जब भगवान को बाह्यवस्तुओं को असत् दर्शाना था तो उन्होंने सीधे क्यों नहीं कह दिया कि वस्तु नहीं हैं। इस द्रविड़प्राणायाम की भांति आयतन का स्पष्ट कथन करके उसके गर्भ में एक अन्य अर्थ को छिपाकर क्यों कहा? इसका उत्तर यह है कि स्पष्ट कथन से विनेय जनों का सुगमतया धर्मनैरात्म्य में प्रवेश नहीं होता। जिस वस्तु को मनुष्य जिस रूप

में जानता है, उसके उस रूप के मिथ्यात्व को जब वह जान पाता है तब ही उसका धर्मनैरात्म्य में प्रवेश हो सकता है। वह कैसे ? मनुष्य वस्तु का ग्रहण ज्ञाता और ज्ञेय के रूप में करता है। उसके ऐसे ग्रहण में अनादिकालिक वासना का बल काम करता है। अतः वासनाबलात् ज्ञाता तथा ज्ञेय को वह जिस रूप में जानता है, उस रूप में उनके मिथ्याभाव को जानकर ही वह बाह्यधर्मों को सम्यक् रूप से समझ सकता है। ऐसा होने से ही धर्मनैरात्म्य में उसकी गति हो सकती है। ऐसा प्रवेश वस्तु के स्पष्ट कथन से सुकर न जानकर ही भगवान ने उक्त ढंग की अभिव्यक्ति की।

इस पर पुनः शंका हो सकती है। यहाँ यह क्यों समझा जाय कि भगवान बुद्ध का आयतन के उपदेश में उक्त प्रकार का आशय था, यह क्यों न समझा जाय कि आयतन के वास्तविक अस्तित्व को स्वीकार करते हुए ही उन्होंने ऐसा कहा था। इसका उत्तर यह है कि सभी दृष्टियों से बाह्यवस्तुओं को असिद्ध जानकर ही उनको उस रूप में दिखलाना उनका उद्देश्य था। यदि वे बाह्य-वस्तुओं की सत्ता को स्वीकार करके ऐसा कहते तो बाह्यवस्तुओं की सिद्धि होनी चाहिए। वस्तुओं की सत्ता सिद्ध होने से उनकी उपलब्धि भी किसी न किसी रूप में होनी चाहिए। पर ऐसी उपलब्धि तो होती नहीं है। यदि कुछ क्षण के लिए बाह्यवस्तुओं के अस्तित्व को मान भी लिया जाय तो वे तीन ही रूप में उपलब्ध हो सकते हैं—अवयवी के रूप में, परमाणुओं के रूप में या परमाणुओं के समूह के रूप में।

इनमें बाह्यवस्तु को अवयवी माना जाय तो युक्त नहीं। कारण यह है कि अवयवी का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। जिन विषयों का साक्षात्कार होता है, वे अवयवों के रूप में देखे जाते हैं। यथा मनुष्य रथ को देखता है। ऐसा करते हुए वह चक्र, ध्वज, पञ्जर, अश्व आदि को ही देखता है। इनसे भिन्न रथ को वह नहीं देख पाता है। इन अवयवों से भिन्न किसी वस्तु का प्रत्यक्ष होता ही नहीं है, जिसे अवयवी कहा जा सके। अतः बाह्यवस्तु अवयवी नहीं हो सकते हैं।

विषय को अनेक परमाणुओं के रूप में भी नहीं माना जा सकता है। कारण जब एक परमाणु की सिद्धि हो सके तब तो अनेक परमाणुओं की सिद्धि हो सकती है। परमाणु को अतीन्द्रिय कहा जाता है। अतीन्द्रिय होने के कारण वह इन्द्रियों का विषय नहीं हो सकता है। इन्द्रियों के अतिरिक्त ज्ञान के अन्य साधन नहीं है। अतः जब उसका ज्ञान ही नहीं हो सकता है तो उसके अस्तित्व की सिद्धि कैसे हो सकती है? इस पर यदि यह कहा जाय कि भले ही वह इन्द्रियग्राह्य नहीं हो सकता है पर अपने अतीन्द्रिय रूप में तो सिद्ध है। उसे अतीन्द्रिय रूप में स्वीकार कर लेने में क्या क्षति है? इसका उत्तर है कि परमाणु को अतीन्द्रिय

रूप में भी तब ही स्वीकार किया जा सकता है जब उसकी सिद्धि किसी प्रकार किसी भी साधन से उस रूप में भी हो जाय। प्रमाणों के सहारे परीक्षा करने पर प्रकट होता है कि अतीन्द्रिय परमाणु का होना असंभव है।

विषय परमाणुओं का समूह रूप भी नहीं हो सकता है। जब एक-एक परमाणु की सिद्धि होती तो उनके समूह की सिद्धि हो सकती है। एक परमाणु के असिद्ध होने के कारण उनका समूह भी असिद्ध है।

परमाणु असिद्ध कैसे है ? अणु को निरंश, एक तथा अविभाज्य कहा गया है। ऐसे अणु का प्रत्यक्ष नहीं होता है। जो कुछ दृष्टिगोचर होता है, वह पिण्ड रहता है। यह पिण्ड परमाणुओं के मिलने से हो सकता है। परमाणु के अस्तित्व की चर्चा करने से यह भी स्वीकार करना युक्त होगा कि वह सर्वत्र आकाश से वेष्टित है। फलतः पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व, अधः-छ उसके दिशा भेद होंगे तथा इन्हीं छ दिशाओं से उसके साथ छ प्रकार से मिलन की संभावना की जा सकती है। यह मिलन भी दो प्रकार से हो सकता है—मिलकर उस वस्तु का तदाकार हो जाना या मिलकर भी अपनी पृथक् सत्ता बनाये रखना। यहाँ यदि यह माना जाय कि इन छ दिशाओं से परमाणु उस एक परमाणु के साथ इस प्रकार मिलते हैं कि वे उसी में विलीन हो जाते हैं तब तो इसका फल यह होगा कि वह परमाणु पूर्ववत् एक बना रह जायगा। फलतः परमाणु के अदृश्य होने के कारण वे उसमें विलीन परमाणु भी अदृश्य हो जायेंगे। ऐसी दशा में उनका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है।

पुनः यदि यह स्वीकार किया जाय कि छ परमाणु उस केन्द्रभूत परमाणु के साथ छ दिशाभाग में पृथक् पृथक् मिलते हैं, तो इससे उस केन्द्रभूत परमाणु की षडंशता सिद्ध होती है। ऐसी दशा में परमाणु निरंश नहीं हो सकता है।

[1] वि० सि०—१२.

यहां द्रष्टव्य है कि उस युग में चिन्तन का उत्कर्ष इस सीमा तक था कि परमाणुओं के सहारे ही जगद्व्यवस्था की व्याख्या की जा सकती है। परमाणु के खण्डन कर देने से संसाररचना की कोई अन्य व्याख्या नहीं हो सकती है—ऐसा विश्वास था। संभवतः इस पृष्टभूमि में विज्ञानवादी परमाणु के खण्डन मात्र से संतुष्ट हैं। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य (पृष्ठ ५१५–५२२ निर्णयसागर प्रेस संस्करण) में शंकराचार्य ने परमाणु को भी परमकारण में विलीन होने की संभावना प्रकट की है। आधुनिक विज्ञान भी अणु का शक्ति में रूपान्तरित होने की चर्चा करता है। इस दृष्टि से शंकराचार्य का विचार नवीनतम उत्कर्ष के निकट प्रतीत होता है। इससे फलित होता है कि परमाणु से भिन्न प्रक्रिया द्वारा भी जगत् की व्याख्या संभव है।

पुनः यदि विषय को अविभाज्य स्वीकार किया जाय तो एक साथ कई दोषों का समागम हो जाता है। ऐसा मानने पर क्रमशः गति नहीं हो सकती है। एक बार पृथ्वी पर पैर रखने से समस्त पृथ्वी पर गति हो जायगी—"सकृत् पादक्षेपणे सर्वस्य गतत्वात्"। दूसरा दोष यह उपस्थित होगा कि एक वस्तु का ज्ञान होने से समस्त पदार्थों का ज्ञान हो जायगा। ऐसी विभेद परक बुद्धि नहीं हो पायगी कि अमुक वस्तु का ज्ञान हो रहा हैं तथा अमुक का नहीं—"न हि तस्यैव तदानीं ग्रहणं चाग्रहणं च युक्तम्"। अन्य अव्यवस्था ऐसी होगी कि अश्व, हस्ति, गृह, रथादि जो पदार्थ हैं, उनका ज्ञान पृथक् पृथक् नहीं हो सकेगा। यस्मात् ये समस्त बातें अनुभव से बाधित हो जाती हैं, अतः विषय को एक एवं अविभाज्य नहीं माना जा सकता है।

प्रत्यक्ष का प्रश्न

आयतन के प्रसंग में बाह्यवस्तु के अस्तित्व की परीक्षा कई दृष्टियों से की गई तथा सर्वथा वह कल्पना मात्र ही सिद्ध हुआ। परीक्षाक्रम में यह भी कहा गया कि विषय का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। अतः प्रस्तुत प्रसंग में प्रत्यक्ष का प्रश्न विचार्य है।

कहा जाता है कि किसी भी पदार्थ के अस्तिभाव तथा नास्तिभाव का निर्धारण प्रमाण के द्वारा किया जाता है। प्रमाणों में प्रत्यक्ष ज्येष्ठ प्रमाण है। जिस वस्तु का ज्ञान प्रत्यक्ष से सिद्ध है, उसे मिथ्या नहीं कहा जा सकता है। घट, पट, रथ आदि वस्तुयें दृष्टिगोचर होती हैं। इनका प्रत्यक्ष अनुभवसिद्ध है। अतः यह नहीं कहा जा सकता है कि ये मिथ्या हैं। इसके विपरीत इनसे वस्तुओं के अस्तित्व की सिद्धि हो जाती है।

पर ऐसा कथन युक्त नहीं है। घटपटादिविषयक जो विज्ञान होते हैं, वे भी विषय के बिना ही होते हैं। इनका होना ठीक स्वप्न के विज्ञान के समान है जो विषयरहित होता है। यदि विज्ञान के अनुरूप बाह्यविषयों को मान भी लिया जाय तो यह मान्यता भ्रामक सिद्ध होगी कारण वस्तु का प्रत्यक्ष ही नहीं हो सकता है। उदाहरणस्वरूप एक घट को लिया जाय। कहा जाता है कि हमें घट का प्रत्यक्ष हो रहा है। प्रत्यक्ष क्रम में दो बातों का होना आवश्यक है। प्रथम इन्द्रिय तथा विषय का सम्पर्क तथा दूसरा मन द्वारा उसका ज्ञान। प्रथम क्षण में चक्षु द्वारा विषय का सम्पर्क होता है तथा दूसरे क्षण में मन द्वारा उसको जानने के कार्य होते हैं। ऐसी स्थिति में जिस क्षण चक्षु द्वारा घट को देखने का कार्य होता है, उस क्षण में मन द्वारा जानने का कार्य नहीं होता है। पुनः जब मन द्वारा जानने का कार्य होता है अर्थात् प्रत्यक्षबुद्धि होती है कि—'यह घट

है'—उस क्षण में चक्षुर्विज्ञान के निरुद्ध हो जाने के कारण घट वहाँ विद्यमान नहीं रहता है। अतः ऐसी दशा में उस घट का प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है। इसी न्याय से अन्य इन्द्रियों तथा उनके विषयों के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष के प्रश्न को समझा जा सकता है। विषयप्रत्यक्ष के इस प्रकार असंभव होने से यह फलित होता है कि विज्ञान वस्तुजन्य नहीं होता है। अतः बाह्यवस्तु मिथ्या हैं।

बाह्यवस्तु के अस्तित्व को असिद्ध होते देख वस्तुवादी द्वारा इस प्रसंग में यह युक्ति दी जा सकती है। यह धार्य है कि उक्त विधियों से बाह्यवस्तु की सिद्धि नहीं हो पाती है पर रूपायतन का ज्ञान तो है। यह ज्ञान किसी अन्य ज्ञान द्वारा ज्ञात होता है। फलतः रूपज्ञान उस अन्य ज्ञान का विषय बनता है। ऐसी दशा में उसकी एक विषय के रूप में सिद्धि तो हो जाती है। वस्तुवादी की यह युक्ति भी शैथिल्यपरामर्शिणी है। प्रक्रान्त प्रसंग में रूपज्ञान तथा एक अन्य ज्ञान को विज्ञान से पृथक् ज्ञाता और ज्ञेय के रूप में मानना कल्पना मात्र है। ये समस्त विकल्प विज्ञानपरिणाम के अन्तर्गत हैं। अतः आयतन के सम्बन्ध में कथित बुद्धवचन को लेकर जो बाह्यवस्तु की सिद्धि का प्रयास था, उसके सर्वथा निराधार होने से विज्ञान मात्र ही सत् है, ऐसा सिद्ध होता है :—

विज्ञानपरिणामोऽयं विकल्पो यद्विकल्प्यते।
तेन तन्नास्ति तेनेदं सर्वं विज्ञप्तिमात्रकम्॥ विं० का०, १७.

हिंसा का प्रश्न

जब वस्तुस्थिति ऐसी है कि विज्ञान ही एकमात्र सत् है, तब तो न किसी का शरीर है, न किसी की वाणी ही; न कोई हिंसक है तथा न कोई हिंस्य ही। ऐसी दशा में किसी के द्वारा किसी की हत्या किये जाने पर उसकी मृत्यु क्यों होती है? हिंसक को हिंसाजन्य पाप क्यों लगता है? हिंस्य हिंसक के अभाव में इन क्रियाओं की ठोस अनुभूति एक रहस्यात्मक प्रहेलिका का रूप धारण कर लेती है।

इस प्रश्न का समाधान विज्ञानवाद की पृष्ठभूमि में इस प्रकार किया जा सकता है। हिंसक तथा हिंस्य प्रतीत्य हिंसाक्रिया विज्ञान के अन्तर्गत है। यहाँ न कोई हिंसक है न हिंसा ही। तब हिंसा कैसे होती है? जिसे हिंसा कहा जाता है, वह एक विज्ञप्ति द्वारा अन्य विज्ञप्ति पर प्रभाव डालना है। एक विज्ञप्ति का दूसरी विज्ञप्ति पर आधिपत्य होने से जीवितेन्द्रियविरोधिनी क्रिया उत्पन्न होती है, जिससे सभागसन्तति का विच्छेद हो जाता है। उसी को मरण कहा जाता

है।[1] इसकी सत्यता अन्यत्र भी देखी जाती है। पिशाचादि वस्तुतः नहीं हैं पर उनकी क्रियायें लोकप्रसिद्ध हैं। उनके प्रभाव से मनुष्यों में स्मृतिलोप, स्वप्न-दर्शन, भूतावेश, आदि देखे जाते है। ग्रन्थों में ऐसी चर्चा है कि आर्य कात्यायन के मानसिक अधिष्ठान के कारण सारण को स्वप्नदर्शन हुआ था। अरण्यक ऋषि के मनोदोष से दण्डकारण्य के भस्म होने तथा वेमचित्र के पराजय की कथा लोक तथा शास्त्र में चर्चित है। ये उदाहरण इस तथ्य के परिचायक हैं कि ये सारी क्रियायें वस्तु के अभाव में मन के द्वारा होती रहती हैं। विज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई हिंसक या हिंस्य नहीं है।

वस्तु का स्वभाव

विज्ञान ही एकमात्र सत् है, यह मान्यता पुनः शिथिल सी हो उठती है, जब वस्तुओं के स्वभाव की चर्चा सूत्रों का वल ले मानस को उद्वेलित करती है। सूत्रों में वस्तुस्वभाव की चर्चा है। कहा जाता है कि स्वभाव तीन प्रकार के होते हैं। वे हैं :—परिकल्पित, परतन्त्र तथा परिनिष्पन्न। इसे लक्ष्य कर प्रश्न होता है कि जब सब कुछ विज्ञप्तिमात्र ही है, तो सूत्रों में वस्तुओं के स्वभाव की चर्चा क्यों? क्या वस्तु हैं? इसका उत्तर है कि स्वभाव की चर्चा से वस्तुओं की सिद्धि का कोई सम्बन्ध नहीं है। विज्ञप्तिमात्र के सत् होने से ही इन तीन प्रकार के स्वभावों की व्यवस्था संभव है। यहां सूत्र का विरोध भी नहीं है। यथा :—

परिकल्पित स्वभाव—कहा गया है कि 'जिस-जिस विकल्प से जिस-जिस वस्तु का विकल्प होता है, वह परिकल्पित स्वभाव है'।[2] इसका अभिप्राय यह है कि कुछ मूढ़ पृथक्जन अविद्याप्रेरित मन से कुछ आध्यात्मिक या बाह्य वस्तुओं के सम्बन्ध में विविध प्रकार की कल्पनायें कर डालते हैं। वे विकल्प अविद्यमान ग्राह्य-गाहकत्व की कल्पना मात्र हैं। यद्यपि कल्पनाजालपरिवेष्टित ऐसे वस्तु मिथ्या हैं पर विकल्पगौरव से वस्तुवत् अवभासित होती हैं। वास्तविकता यह है कि जो वस्तु विकल्प का विषय है, उसमें सत्ता का अभाव होने के कारण परिकल्पित अर्थात् अविद्यमान है। अविद्यमान होने के कारण सत् नहीं है। ऐसे ही कल्पनाप्रसूत असत् वस्तुओं के स्वभाव का द्योतन करते हुए परिकल्पित स्वभाव की चर्चा है—'यद् वस्तु विकल्पविषयस्तद् यस्मात् सत्ताऽभावान्न विद्यते। तस्मात् तद्वस्तु परिकल्पितस्वभावमेव'।

---

१. मरणं परविज्ञप्तिविशेषाद्विक्रिया यथा। विं० का०, १९.

२. त्रिं० का०, २०.

परतन्त्रस्वभाव—'वे विकल्प जो प्रत्यय से उत्पन्न हैं, वे परतन्त्रस्वभाव वाले कहे जाते हैं'।[१] यहाँ विकल्पशब्द परतन्त्र स्वरूप का द्योतक है तथा प्रत्ययोद्भव से परतन्त्र नामक शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त बतलाया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि कुछ ऐसे वस्तु हैं, जिनका अस्तित्व अपने से भिन्न हेतु आदि प्रत्ययों पर निर्भर है। कामावचर, रूपावचर, तथा अरूपावचर के चित्त चैतसिक अभूतपरिकल्प हैं। वे स्वभिन्न हेतुप्रत्यय आदि से उत्पन्न होते हैं। फलतः परतन्त्र कहे जाते हैं। ऐसे वस्तुओं को लक्ष्य करके ही परतन्त्रस्वभाव की चर्चा की गयी है।

परिनिष्पन्नस्वभाव—इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि 'निष्पन्न वह इसलिए है कि वह पूर्व अर्थात् परिकल्पित ग्राहकग्राह्यभाव से सर्वदा रहितता है'—'निष्पन्नस्तस्य पूर्वेण सदा रहितता तु या।' अर्थात् वह वस्तु (विज्ञान) जो समस्त विकल्पों से रहित परिशुद्ध एवं निर्विकार है, वह परिनिष्पन्न कहलाता है। परिकल्पित वस्तुओं के विकल्प में अविद्यमान ग्राह्यग्राहकत्व की कल्पना की जाती है। इसलिए वे नितरां परिकल्पित होते हैं। परतन्त्रवस्तु प्रत्ययसंभूत होते हैं ऐसे परतन्त्र का परिकल्पित से जो सार्वकालिक अत्यन्त रहितता है, वही परिनिष्पन्न स्वभाव है। परिनिष्पन्न अभूत कल्पना से रहित है, अतः परिकल्पित नहीं है। यह परिशुद्ध है, संक्लेशात्मक नहीं अतः परतन्त्र नहीं है। या यों कहें कि परिकल्पित स्वभाव से परतन्त्र की जो अत्यन्त रहितता है, वही परतन्त्र की धर्मता है। जो परतन्त्र की धर्मता है, वह परिनिष्पन्न है। अतः परिनिष्पन्न परतन्त्र से न भिन्न ही है, न अभिन्न ही। यदि वह परतन्त्र से भिन्न हो तो वह अभूतपरिकल्पों से शून्य न हो। यदि वह अभिन्न हो, तो वह संक्लेशात्मक होने के कारण विशुद्ध आलम्बन वाला न हो। स्पष्ट शब्दों में परिकल्पित स्वभाव वाले वस्तु कल्पनामात्र असत् हैं। परतन्त्र स्वभाव वाले वस्तु त्रयभूमिक सांक्लेशिक विज्ञान है। परिनिष्पन्न स्वभाव वाले वस्तु सर्वक्लेशविरहित परिशुद्ध विज्ञान हैं।

इन तीन प्रकार के स्वभाव वाले वस्तुओं की तीन प्रकार की निःस्वभावता है। इन्हें लक्षण निःस्वभावता, उत्पत्ति निःस्वभावता तथा परमार्थ निःस्वभावता कहते हैं। इन्हें निम्नलिखित रूप में समझा जा सकता है।

परिकल्पित वस्तुओं का आकाशकुसुम के समान अपना अस्तित्व नहीं है। ये लक्षण से उत्प्रेक्षित होते हैं। उन्हें ज्ञापित करने के लिए कल्पना में जिन जिन

---

१ परतन्त्रस्वभावस्तु विकल्पः प्रत्ययोद्भवः। त्रिं० का० २१.

लक्षणों का समावेश होता है, वे वास्तविक नहीं हैं। अतः ऐसे वस्तु लक्षण के अवास्तविक होने के कारण लक्षण से निःस्वभाव हैं। इनके इस भाव को लक्षण निःस्वभावता कहते हैं।

परतन्त्र वस्तुओं की अपनी सत्ता नहीं है। माया के समान दूसरे के कारण से उनकी उत्पत्ति होती है। माया जिस रूप में ज्ञात होती है, वह उसका वास्तविक रूप नहीं है। उसी प्रकार उन वस्तुओं की उत्पत्ति आदि का जैसा ज्ञान होता है, वैसा वस्तुतः नहीं है। अर्थात् कारण के द्वारा कार्य की जो उत्पत्ति प्रतीत होती है, उसकी व्यवहार में जो अवास्तविकता है, उसे उत्पत्ति निःस्वभावता कहते हैं।

लोकोत्तर ज्ञान से गम्य अर्थ को परमार्थ कहते हैं। वह आकाश के समान सर्वत्र एकरस विमल तथा निर्विकार होने के कारण परिनिष्पन्न कहलाता है। तथता, धर्मधातु, विज्ञप्तिमात्रता आदि इसके निर्वचन हैं। यह समस्त ज्ञेय पदार्थों की अविद्यमानता एवं विज्ञान की विज्ञप्तिमात्रता में स्थिति की अवस्था है। इसकी इस प्रकार से ज्ञेयपदार्थों की वस्तुतः अविद्यमानता परमार्थ निःस्वभावता है।[1]

अतः सूत्रों में जो तीन प्रकार के स्वभाव तथा उनकी तीन प्रकार की निःस्वभावता का वर्णन है, वह विज्ञप्तिमात्रता के प्रज्ञापनार्थ है, न कि बाह्यवस्तु के संस्थापनार्थ।

स्वप्न के दृष्टान्त पर आपत्ति

विज्ञान को सत् तथा बाह्य वस्तुओं को मिथ्या दर्शाने के लिए विज्ञानवाद में पुनः पुनः स्वप्न का दृष्टान्त दिया गया है। सर्वत्र कहा जाता है कि जिस प्रकार स्वप्न में विषय के बिना ही सारी क्रियायें होती रहती हैं, उसी प्रकार जाग्रत अवस्था में भी समझना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि स्वप्न तथा जाग्रत दोनों अवस्थाओं के विज्ञान एक सा विषय रहित हैं। विज्ञानवाद की इस पृष्ठभूमि में प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जब स्वप्न एवं जाग्रतावस्था की क्रियायें समान हैं, तो उनका फल भी समान ही होना चाहिए। जिस प्रकार जाग्रतावस्था में जब किसी को दान दिया जाता है तो दाता उससे पुण्य का

---

१. प्रथमो लक्षणेनैव निःस्वभावोऽपरः पुनः ।
न स्वयं भाव एतस्येत्यपरा निःस्वभावता ॥
धर्माणां परमार्थश्च स तस्य यतस्तथतापि सः ।
सर्वकालं तथा भावात् सैव विज्ञप्तिमात्रता ॥
त्रिं० का०, २४-२५.

भागी बनता है तथा ग्रहीता उससे उपकृत होता है, उसी प्रकार स्वप्न में दिये गये दानादि का फल होना चाहिए। पुनः यथा जाग्रतावस्था में सर्पदंश अपार कटु वेदना तथा मृत्यु का जनक होता है, उसी प्रकार स्वप्न में हुए सर्पदंश से भी मृत्यु होनी चाहिए।

पुनः स्वप्न में मनुष्य जिन जिन पदार्थों को देखता हैं, जागृति को प्राप्त कर उन्हें असत् जान लेता हैं। उनके असत् होने का ज्ञान समानरूप से पण्डित तथा मूर्ख सबको होता है। जब दोनों अवस्थाओं के ज्ञान समान हैं तो जाग्रतावस्था में देखे हुए वस्तुओं को वह असत् क्यों नहीं मान लेता है।

स्वप्नदृष्टान्त सम्बन्धी ये दो प्रश्न आपाततः बुद्धि को हतप्रभ कर डालते हैं पर विज्ञानवाद में इनका भी सुगम समाधान उपलब्ध है। प्रथम प्रश्न के सम्बन्ध में कहा जाता है कि स्वप्न अवस्था की जो क्रियायें हैं, उनका फल जाग्रतावस्था की क्रियाओं के समान नहीं हो सकता है।

इसका कारण यह है कि स्वप्नावस्था में चित्त मिद्ध से उपहत रहता है। जाग्रतावस्था मिद्धविरहिता होती है। अतः जाग्रत स्वप्न दशायें क्रमशः मिद्धविरहिता एवं मिद्धसमन्विता होने के कारण समान क्रियाफल उत्पादिका नहीं होती हैं। इस कारण से दोनों के फल में अन्तर होता है—मिद्धेनोपहतं चित्तं स्वप्ने तेनासमं फलम् ॥ विं० का० १८.

दूसरे प्रश्न के सन्बन्ध में कहा जाता है कि स्वप्न तथा जाग्रत अवस्थाओं के वस्तु समान रूप से असत् हैं। स्वप्नद्रष्टा तब तक उन वस्तुओं को सत् मानता है, जब तक जाग नहीं जाता है। जागरण की उपलब्धि से ही उसको उनके मिथ्यात्व का ज्ञान स्पष्ट हो जाता है। जाग्रतावस्था का मनुष्य भी उन वस्तुओं को तब तक सत् रूप से ग्रहण करता है, जब तक वह विविध विकल्प वासना की निद्रा से प्रसुप्त रहता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जाग्रत मनुष्य भी पर्यायभेद से सोया हुआ है तथा इस रूप में स्वप्न भी देख रहा है। जिसे मनुष्य व्यवहार में सोया हुआ कहता है, उसका यह अर्थ हुआ कि उस प्रसुप्त पुरुष का चित्त मिद्ध से उपहत है। जो जाग्रत है उसके चित्त में उस अर्थ में मिद्ध का संयोग तो नहीं है पर विविध विकल्प वासनाओं का परिपक्व आवरण है। ऐसी दशा में वह जागता हुआ भी प्रसुप्त होने के कारण वस्तुओं को यथार्थतः नहीं देख पाता है। पर जब उसे लोकोत्तर निर्विकल्पक ज्ञान का उदय होता है, तब उसका सारा भ्रम मिट जाता है। उसके प्रकाश में वस्तुस्थिति सम्यक् रूप में उद्भासित हो उठती है। फलतः वह जान लेता है कि विश्व के समस्त दृश्यमान पदार्थ अलीक हैं। विज्ञान ही एक मात्र सत् है।

संसार

विज्ञानवाद की मान्यताओं के परीक्षाक्रम में देखा गया कि सत् के रूप में यहाँ केवल विज्ञान की ही सिद्धि हो पाती है। इन्द्रियग्राह्य समस्त पदार्थ उसके अवभासमात्र हैं। इस पृष्ठभूमि में संसार की व्यवस्था कैसे हो पाती है,—यह विचार्य है। इसके लिए इस प्रसंग में चार बातें ध्यातव्य प्रतीत होती हैं। वे हैं—संसार क्या है, पुनर्जन्म किसका होता है, पुनर्जन्म का कारण क्या है तथा, पुनर्जन्म कहां होता है।

जीवनमरण प्रवाह का नाम संसार है। "यहाँ उत्पन्न होना, यहीं मरना; यहां मरकर अन्यत्र उत्पन्न होना; अन्यत्र उत्पन्न होकर यहीं मरना; या अन्यत्र मरकर अन्यत्र उत्पन्न होना आदि जो क्रम है, वह जीवनमरण प्रवाह की सृष्टि करता है। इसी को संसार या भवचक्र कहा जाता है"।[1] इसमें पूर्व भव के वर्तमान भव से योग को प्रतिसन्धि तथा वर्तमान भव के छेद को च्युति कहते हैं। प्रतिसन्धि तथा च्युति के मध्य के विज्ञानप्रवाह का नाम वर्तमान जीवन है।

पर यह वर्तमान जीवन किसका है? कौन जन्म लेता है? कौन मरता है? इस पर यदि यह कहा जाय कि वह सत्त्व है जिसका इन क्रियाओं से सम्बन्ध है, तो वह सत्त्व क्या है, व्याख्येय हो जाता है। भारतीय चिन्तन के आदि स्रोत वैदिक परम्परा में आत्मा से विशिष्ट पञ्चमहाभूतात्मक काय को सत्त्व के नाम से अभिव्यक्त किया गया है। उसके अनुसार यह आत्मा ही जीर्ण वस्त्र का परित्याग कर नवीनवस्त्र धारण करने के समान एक शरीर को छोड़कर अन्य शरीर का ग्रहण करता है।[2] स्थविरवाद में रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान नामक पांच स्कन्धों के समूह का व्यावहारिक नाम सत्त्व है[3]। पुनः वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान को नाम कहते हैं। नामरूप पंचस्कन्ध का अधिवचन है। अतः नाम तथा रूप से अभिव्यक्त व्यवहारिक संकेत का नाम

---

१. इध जातो इधेव मरति, इध मतो अञ्ञत्र उप्पज्जति, तहिं जातो तहिं येव मरति, तहिं मतो अञ्ञत्र उप्पज्जति। एवं खो संसारो होती ति।

मि० प० ८०.

२. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा—
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ भ० गी० २,२२.

३. सं० नि० १,१३५,

सत्त्व है[1]। यह नाम रूप ही भवचक्र में आवद्ध होकर एक जन्म से दूसरे जन्म में संसरण करता है[2]।

विज्ञानवाद में विज्ञान ही एक मात्र सत् है। यहां प्रतिसन्धि ग्रहण करने वाला कोई आत्मा, जीव पुद्गल या स्कन्ध नहीं है। विज्ञान की ही एक जन्म से अन्य जन्म में प्रतिसन्धि होती है। विज्ञान में भी सबकी प्रतिसन्धि नहीं होती है, अपितु आलयविज्ञान की प्रतिसन्धि के रूप में प्रवृत्ति होती है। "यह आलय-विज्ञान ही सभी धर्मों का आश्रय तथा अनादिकालिक धातु है। इसके होने से ही संसार की गति है, अन्यथा नहीं[3]।" वह प्रवृत्ति इस प्रकार होती है कि—"पूर्व आलयविज्ञान के क्षीण हो जाने पर अन्य आलयविज्ञान की उत्पत्ति होती है"[4]। "यह प्रवाह की भांति गतिशील रहता है"[5]। "प्रवाह का अर्थ यहां कारण कार्य की निरन्तर प्रवृत्ति है"। 'जिस प्रकार ओघ तृणकाष्ठ गोमयादि को लेते हुए चलता है, उसी प्रकार आलयविज्ञान कुशल अकुशल तथा आनेञ्ज्य कर्मवासना से अनुगत हो स्पर्श मनस्कारादि को लेते हुए स्रोत के समान संसार की प्रवृत्ति पर्यन्त प्रवाहरत रहता है।[6] "यह प्रवाह तब रुक जाता है जब निर्वाण की प्राप्ति होती है।"[7] अतः उक्त उद्धरणों से यह फलित हुआ कि पुनर्जन्म आलयविज्ञान का ही होता है।

संसार का कारण ग्राह्यद्वयवासना समन्वित कर्मवासना है।[8] यही ग्राह्यद्वय वासना के साथ पूर्व आलय के क्षीण होने पर अन्य आलय को उत्पन्न करती है। इसका अभिप्राय क्या है? "कुशल अकुशल तथा आनेञ्ज्यचेतना को कर्म कहते हैं।"[9] जिस किसी क्षण जो कुछ भी कर्म किया जाता है, वह अपना तद्रूप विपाक

---

१. नामरूपमत्तमेव अत्थि। वि० म० ४१९.

२. नामरूपं पटिसन्दहती ति। मि० प० ४९.

३. अनादिकालिको धातुः सर्वधर्मसमाश्रयः।
तस्मिं सति गति सर्वा............॥
न चालयविज्ञानमन्तरेण संसारप्रवृत्ति...युज्यते। वि० सि० ८४.

४. वि० सि० ८३.

५. वि० सि० ४३.

६. वि० स० ४६.

७. त्रि० का० ५.

८. कर्मणो वासना ग्राह्यद्वयवासनया सह।
क्षीणे पूर्वविपाकेऽन्यद्विपाकं जनयन्ति तत्॥ त्रि० का० १९.

९. वि० सि० ८२.

उत्पन्न करता है, जो आलयविज्ञान में संचित होता है। ऐसे विपाक को संस्कार कर्मबीज, सामर्थ्य या वासना कहते है अर्थात् "आत्मभाव के रूप में अभिनिर्वृत्ति के साधक आलयविज्ञान में संचित कर्मज सामर्थ्य का नाम वासना है।"[1] कर्म कहने से भी कर्मवासना ही अभिप्रेत है।

ग्राह्यग्राह तथा ग्राहकग्राह को ग्राहद्वय कहते हैं। इनमें ऐसा अध्यवसाय कि विज्ञान से पृथक् विज्ञान सन्तान में कोई ग्राह्यपदार्थ है, ग्राह्यग्राह कहलाता है। ऐसा ग्राह्य विज्ञान के द्वारा जाना जाता है, यह ग्राहकग्राह है। इस प्रकार पूर्व उत्पन्न ग्राहद्वयों द्वारा आक्षिप्त भविष्य में तत्समकक्ष ग्राहद्वयों की उत्पत्ति के वीज को ग्राहद्वयवासना कहते हैं। इन्हीं दो वासनाओं के साथ कर्मवासना संसार का कारण बनती है।

यद्यपि ये वासनायें संसार के कारण हैं, पर इनकी प्रवृत्ति तब तक नहीं देखी जाती है, जब तक इनके एक अन्य सहयोगी का साथ नहीं हो जाता है। वह है क्लेश। क्लेश के कारण हीं भव भोग अर्थात् पुनर्जन्म एवं विविध प्रकार के भोगों के लिए ईप्सा होती है। साथ ही आत्मदृष्टि, आत्ममोह, आत्ममान, तथा आत्म-स्नेह का जन्म होता है। जिस प्रकार मद्यप तब तक अनर्थकर कार्यों में प्रवृत्त नहीं होता है जब तक उसके साथ मद्य का योग नहीं हो जाता है, उसी प्रकार अनर्थकारी पुनर्जन्म की प्रवृत्ति में कर्मवासना तथा ग्राहद्वय-वासना के साथ क्लेश मद्य का काम करता है। इसलिए कहा गया है कि "पुनर्जन्म देने में कर्म स्वयं समर्थ होते हुए भी क्लेश के आधिपत्य से ही तद्रूप प्रवृत्त हो सकता है, क्लेश के अभाव में नहीं। अतः क्लेश ही संसार की प्रवृत्रि में प्रधान होने के कारण मूल कहलाता है"।[2]

सत्वों का जन्म कहा होता है, इस सम्बन्ध में विज्ञानवाद में प्रभूत सामग्री नहीं उपलब्ध होती है। वस्तुस्थिति भी कुछ ऐसी ही है। विज्ञानवाद विज्ञान मात्र को ही सत् मान कर भूमिगत द्रव्यात्मक व्ववस्था कैसे कर सकता है? स्थविरवाद में सत्त्वावास के रूप में चार भूमियों की मान्यता है। वे हैं—अपायभूमि, कामसुगतिभूमि, रूपभूमि तथा अरूपभूमि। इनमें अपायभूमि तथा कामसुगतिभूमि को कामावचरभूमि कहते हैं। कर्म भी कामावचर, रूपावचर तथा अरूपावचर तीन प्रकार के कहे गये हैं। कामावचर कर्म पुनः कुशल तथा अकुशल दो प्रकार का होता है। इन कर्मों के अनुसार ही उक्त भूमियों में सत्त्वों

---

१. वि० सि० ८३.

२. वि० सि० ८६–८७.

की प्रतिसन्धि होती है।[1] विज्ञानवाद में इन भूमियों का उल्लेख तो अवश्य है पर इन्हें स्वप्न माया तथा मरीचिका के समान अलीक कहा गया है।[2] हाँ, कर्म सिद्धान्त यहाँ भी स्वीकृत है। कर्म के अनुसार ही जन्म तथा सुख दुःख की अनुभूति समानतया इष्ट है। इस दिशा में ऐसे तथ्य भी उपलब्ध होते हैं कि—"समान कर्म के विपाक वाले सभी प्रेत नरक में पूय पूर्ण नदी देखते हैं।" "नरकों में उन नारकीयों के कर्म से विशिष्ट आकृति प्रमाण तथा बल वाले विशेष प्रकार के प्राणी उत्पन्न होते हैं जो नरकपालादि की संज्ञा पाते हैं।" "जो पशुपक्षी स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं, वे उस लोक के अनुकूल सुख के उत्पादक कर्म से वहां उत्पन्न होते हैं तथा तज्जन्य सुख का अनुभव करते हैं।"[३]

इन उद्धरणों से दो बातों पर प्रकाश पड़ता है। प्रथम यह कि सत्त्वों के आवास की तीन भूमियां हो सकती हैं। एक वह जहाँ कुशल या अकुशल कर्म किये जाते है। वह कर्मभूमि कही जा सकती है। दूसरी भूमि है नरक, जहां अकुशल कर्मों के फलस्वरूप उत्पत्ति होती है तथा तीसरी भूमि स्वर्ग है जहाँ कुशल कर्मों के कारण उत्पन्न होना इष्ट है। दूसरी बात यह कि सत्त्वों की उत्पत्ति की कई योनियां हैं—यथा मनुष्य, प्रेत, पशु पक्षी आदि। अब विज्ञान मात्र सत्स्वीकृति की पृष्ठ भूमि में इन भूमियों तथा विविध योनिगत सत्त्वों का क्या स्वरूप हो सकता है, यह विवेच्य है।

प्रथम प्रश्न भूमि का है। कामधातु, रूपधातु तथा अरूपधातु ये तीन भूमियां या लोक हैं। ये भूमियां आपाततः द्रव्यात्मक प्रतीत होते हुए भी विज्ञान के अन्तर्गत हैं। विज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य रूप में इनकी अवस्थिति नहीं है। सूत्र भी इस तथ्य का परिचायक है कि "यह जो त्रैधातुक है, वह चित्तमात्र है।"[४] अतः इनके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि ये भूमियां चित्त की विविध अवस्थाओं के नाम हैं। चित्त की वह अवस्था जो क्लेशों से आवृत्त एवं कालुष्य पूर्ण होती है, इसे कामावचरभूमि कहते है। इसी के अन्तर्गत मनुष्य भूमि तथा नरक आदि को समझना चाहिए। अन्तर इतना ही है कि जो चित्त की अत्यधिक क्लेश पूर्ण अवस्था है वही नरक है। उसकी अपेक्षा कम क्लेशों से युक्त अवस्था मनुष्य भूमि है। रूपधातु तथा अरूपधातु देव भूमियां कही जाती हैं। ये मात्रा की दृष्टि से न्यूनतर तथा न्यूनतम क्लिष्ट विज्ञानावस्था का अधिवचन मात्र हैं।

---

१. अ० स० ५, ८६–१०९.

२. केशोण्ड्रुकप्रख्यमिदं मरीच्युदकविभ्रमात्।
त्रिभवं स्वप्नमायाख्यं.............. ॥ लं० २-१५०.

३. वि० सि० ४-६.

४. चित्तमात्रं भो जिनपुत्रा, यदुत त्रैधातुकमिति" वि० सि० १.

स्वर्ग तथा नरक गमन की बातें सांवृतिक ढंग से कथित हैं। इनका सम्बन्ध विज्ञान की विभिन्न दशाओं से है। इसका अभिप्राय यह है कि अधिक सुखात्मक अनुभूति युक्त मनोदशा की प्राप्ति स्वर्ग गमन है तथा अधिक दुःखात्मक अनुभूति युक्त मनोदशा का लाभ नरकगमन है। ऐसी सुखात्मक एवं दुःखात्मक अनुभूतियों का लाभ पूर्व वासना के कारण होता है। अकुशल कर्म दुःखदवासनाओं के उत्पादक एवं अभिवर्द्धक होते हैं तथा कुशल कर्म उनके विनाशक। अकुशलकर्मों के कारण आलयविज्ञान में अकुशल विपाक का संचय होता है, जो परितापक प्रवृत्तियों का जन्म देता है। इनके ऐसे भूयस संचयन से विज्ञान इन्हीं से आवृत हो उठता है, जिससे उसमें सर्वदा दुःखात्मक अनुभूति ही होने लगती है। विज्ञान की ऐसी दशा की प्राप्ति ही नरक गमन है।

इसके विपरीत कुशल कर्मों के फलस्वरूप कुशलवासना का आचयन होता है। इसमे महोषधि द्वारा विषनाश के समान आलयविज्ञान में व्याप्त अकुशल वासनापरिवेष्टन क्षीण होने लगता है। साथ ही सुखात्मक प्रवृत्तियों का उदय होता है। उनके भूयस संचयन से विज्ञान तथा रूप आप्लावित हो उठता है, जिसके कारण उसमें सर्वदा सुखात्मक अनुभूतियां होती हैं। ऐसी मनोदशा की प्राप्ति ही सुख की मात्रा भेद से उच्चतर मनुष्यभूमि का लाभ या स्वर्गगमन कहा जा सकता है। यहां यह ज्ञातव्य है कि सुख तथा दुःख सापेक्ष हैं। सुख तथा दुःख में वासनावशात् परिमाणगत भेद के कारण स्वर्ग, मनुष्यलोक या नरक में भी विभिन्न प्रकार का भूमिगत विभाजन किया जाता है। एक ही भूमि के सत्त्वों में भी सुख या दुःख की अनुभूति समान नहीं होती है। बीज भेद से अंकुर भेद के समान कर्म भेद से सुखदुःखादि अनुभूति जनित भेद की व्याख्या भी की जा सकती हैं।[1] अतः स्वर्ग नरक आदि की सत्ता विज्ञान से व्यतिरिक्त अन्यत्र नहीं है। वे सभी विज्ञान परिणाम के अन्तर्गत हैं, ऐसा समझना चाहिए।

सत्त्वावासों के कथन के अनन्तर उनमें उत्पन्न हो सुख दुःख के अनुभविता सत्त्वों के सम्बन्ध में कुछ कहना आवश्यक है। कहा जाता हैं कि मनुष्य कुशल अकुशल कर्मों के परिणाम से मनुष्य, देवता पशुपक्षी आदि की योनियों में उत्पन्न होता है। जब विज्ञानवाद में विज्ञान ही एकमात्र सत् है तो मनुष्य, देवता या पशुपक्षी से क्या तात्पर्य हो सकता है। इसका उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है कि मनुष्य, देवता या पशुपक्षी में परमार्थतः कोई आकारगत विभेद नहीं है अपितु विज्ञानगत विभेद है। विज्ञान को ही तीन अवस्थाओं का द्योतन करने के

---

१. वि० सि० ८३.

लिए इन प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। व्यावहारिक जीवन में ऐसा कहते हुए सुना जाता है कि—' वह (मनुष्य) पशु है।'' ऐसे कथन का तात्पर्य यह है कि उसके कुछ ऐसे कार्य होते हैं जो मनुष्य के स्तर के प्राणियों के लिए अनुपयुक्त समझे जाते हैं। ये कार्य वस्तुतः विज्ञान की अभिव्यक्ति मात्र हैं क्योंकि चेतना का नाम ही कर्म है। फलतः उस मनुष्य के निम्नस्तरीय विज्ञान को देख कर ऐसे वाक्यों का प्रयोग होता है। अतः पशु होने का अर्थ है एक निम्नस्तर के विज्ञान की अभिनिर्वृत्ति। उसकी अपेक्षा उच्च स्तर के विज्ञान की उत्पत्ति का सांकेतिक प्रयोग है मनुष्य तथा उच्चतर विज्ञान के प्रादुर्भाव के लिए देवता शब्द का प्रयोग होता है। यहां विज्ञान के उच्च एवं निम्नस्तर की जो बात है, उसका सम्बन्ध क्लेशों को हानवर्द्धनदशा से है। वह विज्ञान जिसमें अकुशल संस्कारों का वेष्ठन सबल एवं सघन रहता है, निम्नस्तर वाला कहा जा सकता है। ज्यों-ज्यों विज्ञान से अकुशल संस्कारों का ह्रास एवं कुशल की वृद्धि होती है, त्यों-त्यों वह अपने परिशुद्ध रूप को प्राप्त करता जाता है। इस प्रकार अकुशलसंस्कारों के हान में मात्रा जनित विभेद के कारण विज्ञान को उच्चस्तरवाला या उचतरस्तर वाला कहा जा सकता है। स्पष्ट शब्दों में एक विशिष्ट सीमा तक परिशुद्ध विज्ञान देवता का, उसकी अपेक्षा कम पर एक निश्चित सीमा तक परिशुद्ध विज्ञान मनुष्य का तथा क्लेशाधिक्य परिपूर्ण विज्ञान पशु या नारकीय प्राणियों का द्योतन करता है।

प्रकृत प्रसंग में इस तथ्य पर प्रकाश डालना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि पुनर्जन्म कैसे होता है। प्रकरण में तो केवल इतना ही उपलब्ध होता है कि—"पूर्व आलयविज्ञान के क्षीण होने पर अन्य आलय-विज्ञान की उत्पत्ति होती है।" यह कथन सुधी जनों के लिए परितोषक होते हुए भी सामान्य बुद्धि सम्पन्न पुरुषों को शंकास्थलगामी बनाता है। आलयविज्ञान विज्ञानसामान्यस्वभाववेश सरितस्रोत सा प्रवहणशील है। सरितस्रोत के तरङ्गों की निरन्तर उत्पत्ति एवं च्युति के सदृश विज्ञान भी उत्पत्ति एवं च्युति क्रम से आबद्ध हो प्रवाह रत रहता है। इसकी पृष्टभूमि में तो प्रतिक्षण प्रतिसन्धि एवं च्युति होती रहती है। तब जन्म एवं मरण की व्याख्या कैसे की जा सकती है? किस पूर्वआलयविज्ञान के क्षीण होने पर च्युति तथा किसकी उत्पत्ति से उत्पत्ति समझी जा सकती है? क्या प्रतिक्षण की उत्पत्ति एवं च्युति का नाम जन्म एवं मरण है या उससे भिन्न? इस पर कहा जा सकता है कि पारमार्थिक दृष्टि से तो प्रतिक्षण ही उत्पाद एवं भंग का क्रम इष्ट है पर जिसे हम जन्म एवं मरण कहते हैं, वह एक विशिष्ट अर्थ में है। आलयविज्ञान को जो एक सरित प्रवाह रूप माना जाता है, इसका यह अभिप्राय नहीं कि वह एक प्रवाह है अपितु वह एक इस अर्थ में

है कि वह विज्ञान प्रवाहों का एक प्रवाह है अर्थात् विज्ञानसन्ततियों की एक सन्तति है।

जिस प्रकार एक प्रवाहरत सरिता में महामेघ के कारण कर्दमयुक्त जल आ मिलता है। उसके मिलने से भी सरित प्रवाह गतिशील रहता है। पर उसमें उस कर्दमयुक्तमेघ जल की सन्तति भी अपनी एक विशिष्ट प्रवाह बनाये रखती है। उसकी वह विशिष्टता तब तक देखी जाती है जब तक वह जल कर्दम रहित न हो जाता है या वह (जल प्रवाह) उसी में विलीन न हो जाता है या किसी अन्य प्रकार से समाप्त न हो जाता है। उसी की भांति अन्य कई जलसन्ततियां उस सरित प्रवाह में देखी जा सकती हैं। इस प्रकार उस सरित प्रवाह के दो रूप हो सकते हैं। पहला प्रवाहसन्ततियों को लिया हुआ सामान्यरूप तथा दूसरा उसके अन्तर्गत प्रवाहरत विविध जलसन्ततियों का पृथक् पृथक् विशिष्ट रूप। सरितप्रवाह के इन दो रूपों को प्रयाग के संगम के अनन्तर श्याम एवं श्वेत जलसन्तति को लिए हुए गंगाप्रवाह से भी स्पष्ट किया जा सकता है। अथवा सामान्य विद्युतप्रवाह एवं विविधगृहों में संसरित तथा नील पीत अवदातादि विद्युतगोलकों में प्रस्फुटित विद्युतसन्तति की उपमा से भी अवगम्य समझना चाहिए।

आलयविज्ञान के भी उक्त प्रकार से सामान्य तथा विशेष दो रूप होते हैं। वह अपने सामान्यरूप में सभी धर्मों का आश्रय तथा अनादिकालिक धातु है जो अति गम्भीर एवं सूक्ष्म जलप्रवाह सा प्रवृत्त रहता है। इसका विशिष्ट रूप वह है जो विविध कर्मवासनाओं तथा ग्राहद्वयवासनाओं के बल से उसमें अभिनिर्वृत होता है। आलयविज्ञान के इसी विशिष्ट रूप का जन्म मरण से सम्बन्ध है। इसी तथ्य को लक्ष्य करके कहा गया है कि—"कर्मवासनायें ग्राहद्वयवासना के साथ पूर्व आलयविज्ञान के क्षीण होने पर अन्य आलयविज्ञान को उत्पन्न करती हैं। इसका अर्थ यह है कि विज्ञान प्रवाह समष्टि के अन्तर्गत एक विज्ञान प्रवाह व्यष्टि का प्रादुर्भाव होता है। इसे ही हम जन्म कहते हैं। पुनः जिस वासना के बल से उसकी अभिनिर्वृत्ति होती है, उसके क्षीण हो जाने से वह आलयविज्ञान भी क्षीण हो जाता है। इसी को मरण कहा जाता है। यह क्रम यहीं अवरुद्ध नहीं हो जाता है अपितु अन्य कर्मवासनाओं के बल से विभिन्न रूपों में प्रवृत्त होते हुए विज्ञान प्रवाह को बनाये रखता है। यही जन्ममरण का अव्यवच्छिन्न प्रवाह संसार है।

निर्वाण

बौद्धपरम्परा के अनुसार मनुष्य जीवन की चरम प्राप्ति निर्वाण का अधिगम

है ।[१] इसी को लक्ष्य कर कुलपुत्र गृहत्याग प्रव्रजित होते हैं तथा इसकी प्राप्ति से सब कुछ प्राप्त कर लेते हैं ।[२] यही उनके ब्रह्मचर्यवास का सफल पर्यवसान तथा धर्म विनय का एकमात्र सार है ।[३] नाना दिशाओं में प्रवहमान सरित प्रवाह के सागरोन्मुख होने की भांति भगवान की समस्त देशनायें निर्वाणोन्मुख है ।[४]

निर्वाण की चर्चा बौद्धदर्शन की सभी परम्पराओं में उपलब्ध है। सर्वत्र यह जीवन के परम लाभ के रूप में स्वीकृत है पर इसके स्वरूप निरूपण-स्थापन में ऐक्य नहीं है ।

स्थविरवाद में निर्वाण को एक भाव पदार्थ कहा गया है पर इसका क्या स्वरूप है तथा इसकी प्राप्ति के बाद कैसी अनुभूति होती है, इस पर स्पष्ट उक्ति नहीं है । वहां केवल ऐसे कथनों से ही स्वरूप निरुपण चर्चा का उपरम हो जाता है कि[५]—

अच्चि यथा वातवेगेन खित्तो, अत्थं पलेति न उपेति संखं ।
एवं मुनि नाम काया विमुत्तो, अत्थं पलेति न उपेति संखं ॥
सु० नि० ११५ पृ०.

सर्वास्तिवाद में निर्वाण की चर्चा भावात्मक है। वहां प्रतिसंख्यानिरोध को निर्वाण कहा गया है ।[६] प्रतिसंख्या का अर्थ लोकोत्तर प्रज्ञा है ।[७] निरोध शब्द विसंयोग का अधिवचन है ।[८]

लोकोत्तर प्रज्ञा के उदय से समस्त क्लेश चित्तसन्तान से विसंयुक्त हो जाते

---

१. निब्बानं परमं वदन्ति बुद्धा । ध० प०, बु० व० ६.
२. यस्सत्थाय कुलपुत्ता सम्मदेव अगारस्मा अनगारियं पब्बज्जन्ति.
म० नि० २,४०२.
ब्रह्मचरियं निब्बानपरायनं निब्बानपरियोसान.
म० नि० १०,३७५.
३. सेय्यथापि, भिक्खवे, महासमुद्दो एकरसो लोणरसो, एवमेव खो भिक्खवे, अयं धम्मविनयो एकरसो विमुत्तिरसो । चु० व० ३५७.
४. दी० नि० २,१६७
५. निब्बन्ति धीरा यथायं पदीपो । सु० नि० २४ पृ०.
६. स निर्वाणं प्रतिसंख्यानिरोधं । अ० को० टी० ९७ पृ०.
७. दुःखादीनामार्यसत्यानामितिविशेषपरिग्रहात् प्रतिसंख्यानम् अनाश्रवैव प्रज्ञा गृह्यते । स्फु० १८ पृ०.
प्रतिसंख्या हि प्रज्ञा । अ० को० टी० ३ पृ०.
८. विसंयोगः पृथक् पृथक् । अ० को० १,६.

हैं तथा वह परम परिशुद्ध रूप में अभिव्यक्त होता है।[1] यह अवस्था ही निर्वाण की अवस्था है। इस प्रकार के निरोध अर्थात् विसंयोग की प्राप्ति प्रतिसंख्या अर्थात् लोकोत्तर प्रज्ञा से होती है, अतः इसे प्रतिसंख्या निरोध कहते हैं।[2] यह प्रतिसंख्या निरोध निर्वाण है।[3]

सौत्रान्तिक दर्शन में निर्वाण को परम तत्त्व माना गया है। यस्मात् इस परम्परा के आधार ग्रन्थ अभी नहीं प्राप्त हो पाये हैं, अतः निर्वाण के स्वरूप सम्बन्धी निश्चयात्मक उक्ति नहीं दी जा सकती है। अन्य परम्परा के ग्रन्थों में उद्धरण के रूप में उपस्थापित तथ्यों तथा आधुनिक विद्वानों के आलोचनात्मक अभिव्यक्तियों के आधार पर इसे अभावात्मक कहने में औचित्य है।[4]

माध्यमिक दर्शन में निर्वाण का कथन विशिष्ट तर्कावगुण्ठन के मध्य हुआ है।[5] वहां इसे 'सर्वप्रपंचोपशम शिवं' रूप में चर्चित करते हुए वाद एवं उक्ति-पथ से परे बतलाया गया है।[6]

विज्ञानवाद, जो बौद्धचिन्तन का उत्कर्ष माना जाता है, उसमें निर्वाण के स्वरूप निरूपण स्थापन सम्बन्धी चर्चा किस रूप में उपलब्ध है वह यहां विचार्य है। प्रकरण में कहा गया है कि—"आलयविज्ञान के होने से संसार की गति एवं निर्माण की प्राप्ति होती है।" "आलयविज्ञान के विना संसार की प्रवृत्ति या निवृत्ति संभव नहीं है।" "आलयविज्ञान का जन्मान्तरीय शरीर में प्रति-

---

१. स्फु० १८ पृ०.

२. प्रज्ञाविशेषेण प्राप्यो निरोधो इति प्रतिसंख्यानिरोधः.
स्फुट० १८ पृ०.

३. स्फुट० १८, १९, २०.

४. यू० फ० २५४, २६६, २६७, २६८ पृ०.
बौ० ध० द० ३७३ पृ०, ही० म० १७७-८२ पृ०.
बु० नि० २९-३१, ओ० बु० ४७७ पृ०.

५. अप्रहीणमसंप्राप्तमनुच्छिन्नमशाश्वतं।
अनिरुद्धमनुत्पन्नमेतन्निर्वाणमुच्यते ॥
मा० का० २५, ३.

६. इह हि सर्वेषां प्रपंचानां निमित्तानां या उपशमो अप्रवृत्तिस्तन्निर्वाणं, स एव चोपशमः प्रकृत्यैवोपशान्तित्वाच्छिवः। वाचामप्रवृत्तेर्वा प्रपंचोपशमश्चित्तस्याप्रवृत्तेः शिवः।.........यदा चैवं बुद्धा भगवन्तः सर्वप्रपंचोपशान्तरूपे निर्वाणे शिवेऽस्थानयोगेन नभसीव हंसराजाः स्थिताः।
मा० का० वृ० ५३८ पृ०.

सन्धान संसार तथा उसकी निवृत्ति निर्वाण है ॥"[1] इन उद्धरणों से प्रकट होता है कि संसार तथा निर्वाण दोनों का सम्बन्ध आलयविज्ञान से है। यह दोनों का कारण है। तब किस रूप में संसार का कारण बनता हैं तथा किस रूप में इसका सम्बन्ध निर्वाण से है, यही प्रश्न का दौरूह्य है। पूर्व में संसार की चर्चा की जा चुकी है। वहां दर्शाया गया है कि गाहद्वयवासना के साथ कर्मवासना एक विपाक (आलय विज्ञान) के क्षीण होने पर अन्य विपाक को उत्पन्न करती है। अर्थात् इन वासनाओं के योग से आलयविज्ञान की एक शरीर से अन्य शरीर में प्रतिसन्धि होती है। यही संसारप्रवृत्ति है। पुनः आलयविज्ञान की जो निवृत्ति है उसे निर्वाण कहा गया है। निवृत्ति शब्द का अर्थ नाश नहीं है।[2] यह एक विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त है। निवृत्ति, व्यावृत्ति तथा परावृत्ति—ये तीनों शब्द यहाँ पर तात्पर्यतः एकार्थक हैं। इनका अर्थ होता है रूपान्तरित होना। आलयविज्ञान की निवृत्ति से यह अभिप्रेत है कि वह जिस रूप में था, उसके उस रूप से अन्य रूप में रूपान्तरित होकर अभिव्यक्त होना। आलयविज्ञान का संसारप्रवृत्तिजनक-रूप कर्मवासना, ग्राहद्वयवासना तथा अन्यान्य क्लेशों से समन्वित रहता है। अतः इसके इन समस्त वासनाओं, क्लेशों तथा उपक्लेशों का प्रहाण तथा उसके सर्वमलविरहित परम परिशुद्ध में परिणति ही निवृत्ति है। इसी को आश्रय-परावृत्ति कहा जाता है।[3]

तब आलयविज्ञान की व्यावृत्ति किस अवस्था में तथा कैसे होती है, इसकी चर्चा की यहां यौक्तिक आवश्यकता प्रतीत होती है। प्रकरण में कहा गया है कि—"इसकी व्यावृत्ति अर्हत्व की अवस्था में होती है।"[4] 'क्षयज्ञान तथा अनुत्पत्तिज्ञान से अर्हत्व की प्राप्ति होती है।' उस अवस्था में आलयविज्ञान-स्थित समस्त दौष्ठुल्यों का निरवशेष प्रहाण हो जाता है तथा भविष्य में उनकी उत्पत्ति की संभावना नहीं रह जाती है। यही अर्हत्व अर्थात् निर्वाण की अवस्था है। लंकावतारसूत्र में कहा गया हैं कि—"विकल्प मनोविज्ञान की व्यावृत्ति को

---

१ वि० सि० ८४ पृ०.
तत्र संसारप्रवृतिर् निकायसभागान्तरेषु प्रतिसन्धिवन्धः। निवृत्तिः सोपधिशेषो निरूपधिशेषश्च निर्वाणधातुः।

२. आश्रयपरावृत्ति, महामते, न नाशः। लं० २,३२.

३. आश्रयोऽत्र सर्वबीजकमालयविज्ञानम्। तस्य परावृत्तिर्या दौष्ठुल्यद्वयवासनाभावेन निवृत्तौ सत्यां...। वि० सि० १०८.

४ त्रि० का० ५.

निर्वाण कहा जाता है ''[1] ''जब विविध दृष्टिगत वासनाओं को उत्पन्न करने वाले आलय, मनस, मनोविज्ञानादि समस्तविज्ञानों की स्वभाव तथा वासना से रहित हो परावृत्ति हो जाती है, उसे मैं निर्वाण बतलाता हूँ।''[2] ''यह चित्त स्वभावतः प्रभास्वर है, पर आगन्तुक क्लेशों से उपक्लिष्ट होता है।'' ''जिस प्रकार मल-सहित वस्त्र मल के अभाव में शुद्ध रूप में परिणत हो जाता है, जिस प्रकार सुवर्ण मल के क्षीण हो जाने पर शुद्ध रूप में स्थित हो जाता हैं, उसी प्रकार चित्त समस्त क्लेशों के प्रहीण हो जाने पर अपने परम परिशुद्ध प्रकृत प्रभास्वर रूप में परिणत हो जाता है।''[3] यही परम परिशुद्ध चित्त की अवस्था की प्राप्ति निर्वाण की प्राप्ति है।[4] तथता, शून्यता, धर्मधातु आदि इसी के पर्याय हैं।[5]

निर्वाण दो प्रकार का बतलाया गया है—सोपधिशेषनिर्वाणधातु तथा निरुपधिशेषनिर्वाणधातु। इनमें सोपधिशेषनिर्वाण दृष्टधर्म वेदनीय है तथा निरुपधिशेषनिर्वाण मरणोत्तर वेद्य कहा जा सकता है। ''जो क्लेशोपक्लेश चित्त ही के परिणामविशेष से यथाशक्ति वासनावृत्ति का लाभ होने से प्रवृत्त होते हैं, उनके आलयविज्ञान में स्थित बीज, उनके साथ होनेवाले क्लेश प्रतिपक्षमार्ग से नष्ट हो जाते हैं। बीज के नष्ट होंने पर पुनः उस आश्रय से क्लेशों की उत्पत्ति नहीं होती है, अतः सोपधिशेष निर्वाण की प्राप्ति होती है।''[6] इसको जीवन-मुक्ति कहा जा सकता है। यह आलयविज्ञान का आश्रयपरावृत्तिपूर्वक विमल-विज्ञान में रूपान्तरण या परिणति है।

पुनः "पूर्व कर्मों द्वारा आक्षिप्त जन्म के नष्ट हो जाने से तथा उसके उपरान्त अन्य जन्म का प्रतिसन्धान न होने से निरुपधिशेषनिर्वाण की प्राप्ति होती है।''[7] इसके लाभ से भवचक्र की शृङ्खला सदा के लिए भग्न हो जाती है। अर्थात जो यह कहा गया था कि—''कर्मवासनायें दो ग्राहों की वासना से युक्त होकर पूर्वविपाक के क्षीण होने पर अन्य विपाक को उत्पन्न करती है''—वह क्रम यहां आकर समाप्त हो जाता है।

---

१. विकल्पस्य मनोविज्ञानस्य व्यावृत्ति निर्वाणमित्युच्यते। लं० १२६ पृ०.

२. सर्वविज्ञानस्वभाववासनालयमनोमनोविज्ञानदृष्टिवासना परावृत्ति निर्वाणमित्युच्यते। लं० ९८ पृ०.

३. लं० ७५३ सगा.

४. विकल्पस्याप्रवृत्तिरनुत्पादो निर्वाणमिति वदामि। लं० २०० पृ०.

५ तथताशून्यताकोटि निर्वाणं धर्मधातुकम्।
कार्यं मनोमयंचित्रं चित्तमात्रं वदाम्यहम॥ लं० ३१ पृ०.

६. वि० सि० ८७.

७. वि० खि० ८८.

पर इस अवस्था की प्राप्ति कैसे होती है ? इस सम्बन्ध में कहा जाता है कि जब अद्वैत लक्षणवाली विज्ञप्तिमात्रता में योगी का चित्त स्थित हो जाता है तो सारी विकल्प वासनायें प्रहीण हो जाती हैं। इसके लिए योगी पहले बाह्य एवं आध्यात्मिक उपलम्भों को जानता है। उन्हें जानते हुए वह ऐसी मीमांसा करता है कि जब तक बाह्य उपलब्धि का प्रहाण नहीं होता है, तब तक आध्यात्मिक उपलब्धि का भी प्रहाण नहीं हो सकता है। इस तथ्य को जानकर योगी प्रथमतः ग्राह्यरूप आलम्बन का अभाव समझता है। पुनः ऐसे निष्कर्ष पर आता है कि ग्राह्य के रहने पर ही ग्राहक की स्थिति संभव है, अन्यथा नहीं। फलतः ग्राह्य के अभाव को जानकर ग्राहक के अभाव को जानता है। इस प्रकार आलम्बनरूप ग्राह्य तथा विकल्पकचित्तरूप ग्राहक के नास्तिभाव को जान लेने से आलम्ब्यआलम्बकरहित अर्थात् ग्राह्यग्राहकविनिर्मुक्तलोकोत्तरज्ञान का उदय होता है। इसके प्रकाश में ग्राह्य-ग्राहक के आग्रह की वासनायें प्रहीण हो जाती हैं तथा चित्त स्वचित्तधर्मता में स्थित हो जाता है।[1] इस अवस्था में क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण नामक दो दौष्ठुल्य नष्ट हो जाते हैं तथा इनकी हानि से आश्रयपरावृत्ति हो जाती है।[2] यह आश्रयपरावृत्ति ही आलयविज्ञान की परमपरिशुद्ध रूप विमलविज्ञान में परिणति है। इसको व्यक्त करते हुए कहा गया है कि—

स एवानास्रवो धातुरचिन्त्यः कुशलो ध्रुवः।
सुखो विमुक्तिकायोऽसौ धर्माख्योऽयं महामुनेः॥

अर्थात् वही अनाश्रवधातु है, जो अचिन्त्य, कुशल, ध्रुव, सुखस्वरूप तथा (बोधिसत्त्व का) विमुक्तिकाय तथा महामुनि बुद्ध का धर्मकाय है।

यहां द्रष्टव्य है कि इस अवस्था का द्योतन करने के लिए सात विशेषणों का प्रयोग हुआ है। प्रत्येक दृष्टिविशेष से प्रयुक्त हैं। इसे अनाश्रव धातु कहने का तात्पर्य यह है कि यह आश्रव से रहित है। क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण द्विविध दौष्ठुल्य को आश्रव कहते हैं। इनसे रहित आश्रय परावृत्तिरूप होने से यह अनाश्रव है। यह अचिन्त्य इसलिए है कि यह तर्क से परे, अतुलनीय, एवं प्रत्यात्मवेद्य है। विशुद्ध आलम्बनवाला, कल्याणकारी तथा अनाश्रवधर्ममय

---

१. यदालम्बनं विज्ञानं नैवोपलभते तदा।
स्थितं विज्ञानमात्रत्वे ग्राह्याभावे तदग्रहात्॥ त्रि० का० २८.

२. अचित्तोऽनुपलम्भोऽसौ ज्ञानं लोकोत्तरं च तत्।
आश्रयस्य परावृत्ति द्विधा दौष्ठुल्यहानितः॥ त्रि० का० २९.

होने से वह कुशल है। नाशरहित होने से तथा सर्वकाल में विद्यमाम रहने से वह ध्रुव है। वह नित्य है, इसलिए सुखस्वरूप कहा गया है।

पुनः वह विमुक्तिकाय तथा धर्मकाय भी है। यहाँ इन दो कायों के रूप में विमुक्ति की चर्चा कर उसके दो रूपों पर प्रकाश डाला गया है। इसका अभिप्राय यह है कि आश्रयपरावृत्ति दो प्रकार की होती है—सोत्तरा तथा निरुत्तरा। सोत्तरा का अर्थ है कि उसके आगे भी कुछ है। यहां पूर्ण रूप से आश्रयपरावृत्ति नहीं हुई रहती है। निरुत्तरा आश्रयपरावृत्ति समस्त आवरणों के प्रहाण एवं विज्ञान की परिशुद्धावस्था में रूपान्तरण से होती है। यह पूर्ण प्राप्ति हैं, उसके आगे कुछ प्राप्य नहीं रहता है।

यहां सोत्तरा आश्रयपरावृत्ति विमुक्तिकाय की द्योतक है। जब श्रावकादिगत दौष्ठुल्यों का निरवशेष प्रहाण होता है, तो विमुक्तिकाय की प्राप्ति होती है। यह श्रावकों का दौष्ठुल्य क्लेशावरण है।[1] यस्मात् इस अवस्था में ज्ञेयावरण की हानि नहीं हुई रहती है, इसलिए इसे सोत्तरा आश्रयपरावृति कहते हैं। इस विमुक्ति के अधिगम से भवचक्र की शृङ्खला भग्न तो अवश्य हो जाती है पर सर्वज्ञता की प्राप्ति नहीं हुई रहती है। अतः इसे व्यष्टिसीमा से आवद्ध विमुक्ति भी कह सकते है।

निरुत्तरा आश्रयपरावृत्ति धर्मकाय का अधिवचन है। बोधिसत्त्वगत दौष्ठुल्य की हानि से इसकी उपलब्धि होती है। यह बोधिसत्त्वगत दौष्ठुलय क्या है? द्वयावरण बीज (—"श्रावकबोधिसत्त्वयोः। आद्यस्य क्लेशबीजं, इतरस्य द्वयावरणबीजम्)। अर्थात् क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण के प्रहाण से जिस विमुक्ति की प्राप्ति होती है, उसे धर्मकाय कहते हैं। इसके आगे कुछ प्राप्य नहीं रहने के कारण इसे निरुत्तरा आश्रयपरावृत्ति कहते हैं। यहां दोनों आवरणों के प्रहीण हो जाने से सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है।[2]

यही महामुनि बुद्ध का धर्मकाय है। क्यों? संसार अर्थात् जन्ममरणप्रवाह के क्षीण हो जाने से, क्लेशों का अभाव हो जाने से, तथा सभी धर्मों में विभुत्व अर्थात् सर्वज्ञता की प्राप्ति होने से इसे महामुनि बुद्ध का धर्मकाय कहा जाता है।[3] यहां धर्मकाय के कथन से कोई भौतिक पदार्थ अभिप्रेत नहीं है, अपितु यह सर्वमलविरहित परमपरिशुद्ध, सभी धर्मों में व्याप्त, सर्वाकारज्ञताविशिष्ट विमल-

---

१. क्लेशावरणप्रहाणात् श्रावकानां विमुक्तिकायः। वि० सि० १०१.

२. तदुद्घातात् सर्वज्ञतावाप्तिर्भवतीति। वि० सि० १०१.

३. यथाम्बरं सर्वगतं सदामतं, तथैव तत्सर्वगतं सदामतं।
यथाम्बरं रूपगुणेसु सर्वंगं, तथैव तत्सत्त्वगणेपु सर्वंगं॥ म० सू० ३६.

विज्ञान है। इसी को बुद्धत्व भी कहते हैं, जो रत्नमञ्जुषा के विवृत्त होने की स्थिति के सदृश है।[1] तथता, शून्यता, धर्मता, आदि इसी के पर्याय हैं।

यह विमुक्ति व्यष्टिगत सीमा का अतिक्रमण कर विश्वजनीन होती है। विमुक्तिकाय के लाभ से वह व्यक्तिविशेष स्वयं मुक्त हो जाता है पर वह दूसरों को मुक्त नहीं कर सकता है। पर धर्मकाय लाभी स्वयं तो विमुक्त हो ही जाता है, साथ ही सबको निर्वाण प्राप्त कराने की क्षमता से विशिष्ट हो जाता है। प्रथम के लाभ से अर्हत्व की प्राप्ति तथा दूसरे के लाभ से बुद्धत्व की प्राप्ति कही जा सकती है।

तब विज्ञानवाद के अनुसार निर्वाण का स्वरूप क्या हो सकता है? आलय-विज्ञान का विमलविज्ञान में रूपान्तरण। अर्थात् एक क्लिष्ट व्यष्टिगतविज्ञान का क्लेशविनिर्मुक्त होकर सर्वमलविरहित अत्यन्त परिशुद्ध सार्वभौम विज्ञान में परिणत हो जाना ही विज्ञानवाद की विमुक्ति है।[2] इस विमल विज्ञान के एक, नित्य, ध्रुव तथा सुखस्वरूप होने के कारण यह सत् चित् आनन्द स्वरूपा कही जा सकती है।

महेश तिवारी

---

१. विवृता रत्नपेटेव बुद्धत्वं समुदाहृतम्। म० सू० ३३.

इस कथन से यह दर्शाया गया है कि सभी मनुष्य बुद्ध हो सकते हैं। रत्न-मञ्जूषा सब में है पर वह आवरणद्वयों से आवृत रहता है। इनके प्रहाण से उसकी विवृति होती है, जिससे बुद्धत्व की प्राप्ति होती है।

२. ही० म० १.१२९–२०४ पृ०.
ओ० बु० ४९४–९६ पृ०.
तु० करें :—

विञ्ञाणं अनिदस्सनं, अनन्तं सब्बतो पभं।
एत्थ आपो च पथवी, तेजो वायो न गाधति॥
एत्थ दीघं च रस्सं च, अणुं थूलं सुभासुभं।
एत्थं नामं च रूपं च, असेसं उपरुज्झति।
विञ्ञाणस्स निरोधेन, एत्थेतं उपरूज्झतीति॥

दी० नि० १,१९०.

विञ्ञाणं अनिदस्सनं अनन्तं सब्बतो पमं, तं पठविया पठवत्तेन अननुभूतं, आपस्स आपत्तेन अननुभूतं, तेजस्स तेजत्तेन अननुभूतं, वायस्स वायत्तेन अननुभूतं ......सब्बस्स सब्बत्तेन अननुभूतं॥

म० नि० १-४०३.

॥ श्रीः ॥

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः

अथ विंशतिकाप्रकरणवृत्तिः

(१)

महायाने त्रैधातुकं विज्ञप्तिमात्रं व्यवस्थाप्यते । 'चित्तमात्रं भो जिनपुत्रा, यदुत त्रैधातुकमिति' सूत्रात् । चित्तं मनो विज्ञानं विज्ञप्तिश्चेति पर्यायाः । चित्तमत्र ससम्प्रयोगमभिप्रेतम् । मात्रमित्यर्थप्रतिषेधार्थम् ।

विज्ञप्तिमात्रमेवेद[1]मसदर्थावभासनात् ।
यद्वत्[2] तैमिरिकस्यासत् केशोण्डू[3]कादिदर्शनम् ॥ १ ॥

कश्चिदर्थो नास्ति ।[4]

(१)

महायानदर्शन के अनुसार त्रैधातुक अर्थात् कामधातु, रूपधातु तथा अरूपधातु विज्ञप्तिमात्र हैं, इसकी स्थापना की जाती है । 'हे जिनपुत्रों, यह जो त्रैधातुक है, वह चित्तमात्र है', इस सूत्र से (प्रकट होता है)। चित्त, मन, विज्ञान तथा विज्ञप्ति पर्यायवाची शब्द हैं । यहां चित्त विषय के साथ युक्त अभिप्रेत है । मात्र (शब्द) विषय के निषेध के लिए है ।

जिस प्रकार तिमिर रोग से ग्रस्त मनुष्य को असत् केश-गुच्छादि के दर्शन होते हैं, उसी प्रकार सभी भासमान अर्थों (विषयों) के असत् होने के कारण सब कुछ विज्ञप्तिमात्र ही है ॥ १ ॥

(चित्त के अतिरिक्त) कोई भी पदार्थ नहीं है ।

---

१. A. B. वैतद् ।
२. A. B. यथा ।
३. A. B. शचन्द्रा ।
४. A. B. omit this sentence.

(२)

अत्र चोद्यते—

न देशकालनियमः सन्तानानियमो न च ।
न च कृत्यक्रिया युक्ता विज्ञप्तिर्यदि नार्थतः[1] ॥ २ ॥

किमुक्तं भवति ? यदि विनापि रूपाद्यर्थेन रूपादिविज्ञप्तिरुत्पद्यते न रूपाद्यर्थात्, कस्मात् क्वचिद् देश उत्पद्यते, न सर्वत्र ? तत्रैव च देशे कदाचिदुत्पद्यते न सर्वदा ? तद्देशकालप्रतिष्ठितानां सर्वेषां सन्तान[2] उत्पद्यते, न केवलमेकस्य ? यथा तैमिरिकाणां सन्ताने केशाद्याभासो, नान्येषां ? कस्मात् तैमिरिकैः केशभ्रमरादि दृश्यते तेन केशादिक्रिया न क्रियते, न च तदन्यैर्न क्रियते ? यदन्नपानवस्त्रविषायुधादि स्वप्ने दृश्यते तेन अन्नादिक्रिया न क्रियते, न च तदन्यैर्न क्रियते ? गन्धर्वनगरेणासत्त्वान् नगरक्रिया न क्रियते न च तदन्यैर्न क्रियते ? तस्मादर्थाभावे[3] देशकालनियमः सन्तानानियमः कृत्यक्रिया च न युज्यते ।

(२)

यहां पर प्रश्न किया जाता है :—

यदि विज्ञप्ति विषय रहित है, तो देशकाल का नियम, सन्तान का अनियम तथा कृत्यक्रिया का होना युक्त नहीं हो सकता ॥ २ ॥

क्या कहा गया ? यदि रूपादि विषय के विना ही रूपादि विज्ञप्ति उत्पन्न होती है, रूपादि विषयों (अर्थों) के कारण नहीं, तो क्यों किसी (एक) ही स्थान (देश) में उत्पन्न होती है, सर्वत्र नहीं ? उस स्थान में भी कभी-कभी ही उत्पन्न होती है, सर्वदा नहीं (यह क्यों) ? उस देश और काल में स्थित सभी मनुष्यों के चित्तसन्तान में उत्पन्न होती है, केवल एक ही के नहीं (यह क्यों) ? जिस प्रकार तैमिरिकों के चित्तसन्तान में केशादि का आभास होता है, दूसरों के नहीं (क्यों) ? (उसी प्रकार यदि बाह्यार्थ नहीं हैं तो चित्तभेद से विषयों में भी भिन्नता की प्रतीति होती, पर ऐसा नहीं होता है। सभी लोग एक घट को घट के रूप में ही देखते हैं। ऐसा क्यों ?) क्यों तैमिरिकों द्वारा जो केश-भ्रमरादि

---

१. A. यदि विज्ञप्तिरनर्था नियमो देशकालयोः ।
सन्तानस्यानियमश्च युक्ता कृत्यक्रिया न च ॥ २ ॥

B. अनर्था यदि विज्ञप्तिर्नियमो देशकालयोः ।

× × ×

२. C. सन्तानानियम । ३. C. असद्भावावभासने ।

देखे जाते हैं, उनसे केशादि क्रिया न की जाती है, जो दूसरों द्वारा (दृष्ट विषयों से) की जाती है ? क्यों जो अन्न, पान, वस्त्र, विष, आयुध आदि स्वप्न में देखे जाते हैं, उनसे अन्नादि क्रिया न की जाती है, जो दूसरों से की जाती है ? (अर्थात् स्वप्न अवस्था से भिन्न जाग्रत अवस्था में देखे गये अन्नादि विषयों से अन्नादि क्रिया की जाती है)। (क्यों) गन्धर्वनगर के असत् होने के कारण उससे नगरक्रिया (नगर में रहने आदि के काम) नहीं की जाती है, किन्तु दूसरों (नगरों) से भी नहीं की जाती है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। (अर्थात् उससे भिन्न प्रतीयमान नगरों से नगर का कार्य तो होता ही है)। अतः विषय के अभाव में देशकाल का नियम, सन्तान का अनियम तथा कृत्यक्रिया का होना युक्त नहीं है।

(३)

न खलु न युज्यते। यस्मात्—

देशादिनियमः सिद्धः स्वप्नवत्—

स्वप्न इव स्वप्नवत्। कथं तावत् ? स्वप्ने विनाप्यर्थेन क्वचिदेव देशे किञ्चिद् भ्रमरारामस्त्रीपुरुषादिकं दृश्यते न सर्वत्र। तत्रैव च देशे कदाचिद् दृश्यते, न सर्वकालम्, इति सिद्धो विनाप्यर्थेन देशकाल-नियमः।

—प्रेतवत् पुनः।

सन्तानानियमः—

सिद्ध इति वर्तते। प्रेतानामिव प्रेतवत्।

कथं सिद्धः ?

समं—

—सर्वैः पूयनद्यादिदर्शने ॥ ३ ॥

पूयपूर्णा नदी पूयनदी। घृतघटवत्। तुल्यकर्मविपाकावस्था हि प्रेताः सर्वेऽपि पूयपूर्णां नदीं पश्यन्ति नैक एव। यथापूयपूर्णामेवं मूत्रपुरीषादिपूर्णां दण्डासिधरैश्च पुरुषैरधिष्ठितामित्यादिग्रहणेन। एवं सन्तानानियमो विज्ञप्तीनामसत्यप्यर्थे सिद्धः।

(३)

(अर्थाभाव में उपर्युक्त बातें) संगत नहीं हो सकती हैं, ऐसी बात नहीं है। क्योंकि :—

'देशादि का नियम स्वप्न के समान सिद्ध है'।

'स्वप्नवत्' का अर्थ है स्वप्न के समान । वह कैसे ? स्वप्न में विषय के विना भी किसी देश में ही कोई भ्रमर, उद्यान, स्त्री, पुरुषादि देखे जाते हैं, सर्वत्र नहीं। उस स्थान में भी कभी-कभी ही देखे जाते हैं, सभी समय नहीं। इस प्रकार विषय के विना भी देश एवं काल का नियम सिद्ध हो जाता है ।

—'पुनः प्रेत के समान',

'सन्तान का अनियम'—

सिद्ध है । 'प्रेतवत्' का अर्थ है प्रेतों के समान ।

कैसे सिद्ध है ?

—'सभी के द्वारा पूयनदी आदि के समानरूप से दर्शन में' ॥ ३ ॥

पूयनदी का अर्थ है—पीप से भरी नदी । घी के घड़े के समान । समान कर्म के विपाक की अवस्था वाले सभी प्रेत पूयपूर्णा नदी को देखते हैं, एक नहीं। 'आदि' शब्द के ग्रहण से (यह अर्थ है कि) यथा पूय से भरी नदी (का दर्शन होता है), उसी प्रकार मूत्र विष्ठा आदि से पूर्ण नदी का तथा लाठी और खड्ग धारण किये हुए पुरुषों से अधिष्ठित दृश्यों का । इस प्रकार विज्ञप्तियों के सन्तान का अनियम विषय के विना भी सिद्ध है ।

(४)

स्वप्नोपघातवत्कृत्यक्रिया—

सिद्धेति वेदितव्यम् । यथा स्वप्ने द्वयसमापत्तिमन्तरेण शुक्रविसर्गलक्षणः स्वप्नोपघातः । एवं तावदन्यान्यैर्दृष्टान्तैर्देशकालनियमादिचतुष्टयं सिद्धम् ।

—नरकवत् पुनः ।

सर्वं—

सिद्धमिति वेदितव्यम् । नरकेष्विव नरकवत् । कथं सिद्धम् ?

—नरकपालादिदर्शने तैश्च बाधने ॥ ४ ॥

यथा हि नरकेषु नारकाणां नरकपालादिदर्शनं देशकालनियमेन सिद्धम् । श्ववायसायसपर्वताद्यागमनागमनदर्शनं चेत्यादिग्रहणेन । सर्वेषां च नैकस्यैव । तैश्च तद्बाधनं सिद्धमसत्स्वपि नरकपालादिषु समानस्वकर्मविपाकाधिपत्यात् । तथान्यत्रापि सर्वमेतद्देशकालनियमादिचतुष्टयं सिद्धमिति वेदितव्यम् ।

किं पुनः कारणं नरकपालास्ते च श्वानो वायसाश्च सत्वा नेष्यन्ते ? अयोगात् । न हि ते नारका युज्यन्ते, तथैव तद्दुःखाप्रतिसंवेदनात् ।

परस्परं यातयतामिमे नारका, इमे नरकपाला इति व्यवस्था न स्यात्। तुल्याकृतिप्रमाणबलानां च परस्परं यातयतां न तथा भयं स्यात्। दाहदुःखं च प्रदीप्तायामयोमय्यां भूमावसहमानाः कथं तत्र परान्यातयेयुः ? अनारकाणां वा नरके कुतः संभवः ?

(४)

'स्वप्न के उपघात के समान कृत्य क्रिया' भी—

सिद्ध है, ऐसा जानना चाहिए। यथा स्वप्न में (स्त्री पुरुष) दोनों के समागम के बिना वीर्यश्राव रूप स्वप्नोपघात होता है। इस प्रकार अन्य दृष्टान्तों से देशकालनियमादि चतुष्टय (चार बातें) सिद्ध हैं।

—'नरकवत्'

'सभी बातें'—

सिद्ध हैं, ऐसा जानना चाहिए। 'नरकवत्' का अर्थ है—जैसा नरकों में होता है।

कैसे सिद्ध है ?

—'नरकपालादि के दर्शन में तथा उनके द्वारा कष्ट दिये जाने में ॥ ४ ॥

यथा नरकों में नारकीयों को नरकपालादि के दर्शन देशकाल नियम से सिद्ध है। 'आदि' (शब्द) के ग्रहण से कुत्ता, कौवा, लोहे के पर्वत के आने जाने के दर्शन भी (समझना चाहिए)। (इन सब के दर्शन) सभी को होते हैं, एक को नहीं। उन नरकपालादि के द्वारा उन नारकीयों को कष्ट दिया जाना भी नरकपालादि के न रहने पर भी (उनके) अपने समान कर्मफल के प्रभाव से सिद्ध है। उसी प्रकार अन्यत्र भी ये सभी देशकाल के नियम सम्बन्धी चार बातें सिद्ध हैं, ऐसा जानना चाहिए।

पुनः क्या कारण है कि नरकपाल, कुत्ते, कौवे आदि प्राणी नरक के वास्तविक सत्त्वों के रूप में नहीं ग्रहण किये जाते हैं ? (इसका उत्तर है) असंभव होने के कारण। वे नरकवासी नहीं सिद्ध होते हैं, क्योंकि नारकीयों के समान उन्हें दुःखादि का अनुभव नहीं होता है। (अर्थात् जिस प्रकार नारकीय सत्त्व विविध प्रकार की यातनाओं का अनुभव करते हैं, वैसा नरकपालादि नहीं करते हैं)। (साथ ही) परस्पर यातना देते हुए, उनमें ये नारकीय हैं, तथा ये नरकपाल हैं, ऐसी व्यवस्था संगत नहीं हो सकती है। (यदि) यातना देने वाले तथा नारकीयों को समान आकृति, आकार एवं बल वाले समझा जाय तो परस्पर यातना देते हुए वे (एक दूसरे को) भय का उत्पादन नहीं कर सकते हैं।

प्रदीप्त लौहमयी भूमि में तज्जन्य दाहदुःख को न सहते हुए वे दूसरों (नारकीयों) को कैसे कष्ट दे सकते हैं। (वे तो वस्तुतः नारकीय नहीं हैं) तो वैसे अनारकीयों का नरक में होना कैसे युक्त हो सकता है ?

(५)

कथं तावत्तिरश्चां स्वर्गसंभवः ? एवं नरकेषु तिर्यक्प्रेतविशेषाणां नरकपालादीनां संभवः स्यात् !

तिरश्चां संभवः स्वर्गे यथा न नरके तथा।
न प्रेतानां यतस्तज्जं दुःखं नानुभवन्ति ते ॥ ५ ॥

ये हि तिर्यञ्चः स्वर्गं संभवन्ति ते तद्भाजनलोकसुखसंवर्तनीयेन कर्मणा तत्र संभूतास्तज्जं सुखं प्रत्यनुभवन्ति। न चैवं नरकपालादयो नारकं दुःखं प्रत्यनुभवन्ति। तस्मान्न तिरश्चां संभवो युक्तो नापि प्रेतानाम्।

(५)

तब स्वर्ग में पक्षियों का होना कैसे संभव है ? उसी प्रकार नरकों में तिर्यक् योनिगत प्रेतविशेषों एवं नरकपालादि का संभव हो सकता है।

यथा तिर्यक् योनिगत प्राणियों की उत्पत्ति स्वर्ग में है, उस प्रकार उनका तथा प्रेतों का नरक में होना संभव नहीं है, क्योंकि वे नरकजन्य दुःख का अनुभव नहीं करते ॥ ५ ॥

जो पशु-पक्षी स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं, वे उस लोक के अनुकूल सुख के उत्पादक कर्म से वहां उत्पन्न होते हैं तथा तज्जन्य सुख का अनुभव करते हैं। इस प्रकार नरकपालादि नरक के दुःख का अनुभव नहीं करते हैं। इसलिए (नरक में) पशु-पक्षियों एवं प्रेतों का होना युक्त नहीं है।

(६)

तेषां तर्हि नारकाणां कर्मभिस्तत्र भूतविशेषाः संभवन्ति वर्णाकृतिप्रमाणबलविशिष्टा ये नरकपालादिसंज्ञां प्रतिलभन्ते। तथा च परिणमन्ति यद्विविधां हस्तविक्षेपादिक्रियां कुर्वन्तो दृश्यन्ते भयोत्पादनार्थम्। यथा मेषाकृतयः पर्वता आगच्छन्तो गच्छन्तो अयःशाल्मलीवने च कण्टका अधोमुखीभवन्त उद्ध्र्वमुखीभवन्तश्चेति। न ते न संभवन्त्येव।

यदि तत्कर्मभिस्तत्र भूतानां संभवस्तथा।
इष्यते परिणामश्च किं विज्ञानस्य नेष्यते ॥ ६ ॥

विज्ञानस्यैव तत्कर्मभिस्तथा परिणामः कस्मान्नेष्यते, किं पुनर्भूतानि कल्प्यन्ते ?

(६)

(तब बात क्या है ?) नरकों में उन नारकीयों के कर्म से विशिष्ट आकृति प्रमाण तथा बलवाले विशेष प्रकार के प्राणी उत्पन्न होते हैं, जो नरकपालादि की संज्ञा पाते हैं। वे भय उत्पादनार्थ विविध प्रकार की हस्तविक्षेपादि क्रिया के रूप में परिणत होते देखे जाते हैं। यथा भेड़े के आकार के आते-जाते हुए पर्वत तथा लौहशाल्मली वन में ऊपर एवं नीचे मुख किये हुए कांटे देखे जाते हैं। वे सर्वथा नहीं हैं, ऐसी नहीं कहा जा सकता है।

यदि उन कर्मों के कारण ही वहां जीवों का होना संभव है, तथा परिणाम भी इष्ट है, तो विज्ञान को ही उस रूप में क्यों न मान लिया जाता है ? ॥ ६ ॥

उन कर्मों के कारण विज्ञान का ही वैसा परिणाम क्यों न मान लिया जाता है ? क्यों पुनः जीवों की कल्पना की जाती है ?

(७)

अपि च—

कर्मणो वासनान्यत्र फलमन्यत्र कल्प्यते।
तत्रैव नेष्यते यत्र वासना किं नु कारणम् ॥ ७ ॥

येन हि कर्मणा नारकाणां तत्र तादृशो भूतानां संभवः कल्प्यते परिणामश्च, तस्य[1] कर्मणो वासना तेषां विज्ञानसन्तानसन्निविष्टा नान्यत्र। यत्रैव च वासना तत्रैव तस्याः फलं तादृशो विज्ञानपरिणामः किं नेष्यते ? यत्र वासना नास्ति तत्र तस्याः फलं कल्प्यत इति किमत्र कारणम् ?

आगमः कारणम्। यदि विज्ञानमेव रूपादिप्रतिभासं स्यान्न रूपादिकोऽर्थस्तदा रूपाद्यायतनास्तित्वं भगवता नोक्तं स्यात्।

(७)

और भी—

कर्म की वासना को अन्यत्र तथा फल को अन्यत्र होने की कल्पना की जाती है। जहां वासना है, वहीं फल की कल्पना नहीं की जाती है। इसका क्या कारण है ? ॥ ७ ॥

1. A. B. omit.

नरकवासियों के जिस कर्म से वहां वैसे जीवों के होने की तथा उनके परिणाम की कल्पना करते हैं, उन नरकवासियों के कर्म की वासना उनके विज्ञान सन्तान के अन्तर्गत स्थित है, अन्यत्र नहीं। जहाँ पर वासना है, वहीं पर उसका (वासना का) फल तथा वैसी विज्ञान की परिणति क्यों न अभीष्ट है ? जहां वासना नहीं है, वहाँ उसके फल की जो कल्पना की जाती है, इसका क्या कारण है ?

आगम कारण है। यदि विज्ञान ही रूपादि विषयों के रूप में प्रतिभासित होता, रूपादि पदार्थ वास्तविक न होते, तो रूपादि आयतनों का अस्तित्व भगवान् द्वारा नहीं कहा हुआ होता।

(८)

अकारणमेतत्। यस्मात्—

रूपाद्यायतनास्तित्वं तद्विनेयजनं प्रति।
अभिप्रायवशादुक्तमुपपादुकसत्त्ववत् ॥ ८ ॥

यथास्ति सत्व उपपादुक इत्युक्तं भगवता अभिप्रायवशाच्चित्तसंतत्यनुच्छेदमायत्यामभिप्रेत्य।

'नास्तीह सत्व आत्मा वा धर्मास्त्वेते सहेतुकाः' इति वचनात्। एवं रूपाद्यायतनास्तित्वमप्युक्तं भगवता तद्देशनाविनेयजनमधिकृत्येत्याभिप्रायिकं तद्वचनम्।

(८)

(ऐसा मानना) अयुक्त है। क्योंकि—

रूपादि आयतनों का अस्तित्व भगवान् द्वारा विनेयजनों के अभिप्राय से उपपादुकसत्त्वों के अस्तित्व के समान कहा गया है ॥ ८ ॥

'उपपादुकसत्त्व हैं'—भगवान् द्वारा ऐसा जो कहा गया है, वह अभिप्रायवश है और वह अभिप्राय यह है कि चित्तसन्तति का भविष्य में उच्छेद नहीं होता है।

"कोई सत्त्व या आत्मा नहीं है, सभी धर्म सहेतुक हैं" इस वचन से (सिद्ध होता है)। इस प्रकार रूपादि आयतनों का अस्तित्व भगवान् द्वारा उस देशना से अनुशासनीय जनों को लक्ष्य करके कहा गया है, इसलिए यह वचन आभिप्रायिक है।

(९)

कोऽत्राभिप्रायः ?

यतः स्वबीजाद्विज्ञप्तिर्यदाभासा प्रवर्तते ।
द्विविधायतनत्वेन ते तस्या मुनिरब्रवीत् ॥ ९ ॥

किमुक्तं भवति ?

रूपप्रतिभासा विज्ञप्तिर्यतः स्वबीजात्परिणामविशेषप्राप्तादुत्पद्यते, तच्च बीजं यत्प्रतिभासा च सा ते तस्या विज्ञप्तेश्चक्षूरूपायतनत्वेन यथाक्रमं भगवानब्रवीत्। एवं यावत् स्प्रष्टव्यप्रतिभासा विज्ञप्तिर्यतः स्वबीजात्परिणामविशेषप्राप्तादुत्पद्यते, तच्च बीजं यत्प्रतिभासा च सा ते तस्या कायस्प्रष्टव्यायतनत्वेन यथाक्रमं भगवानब्रवीदित्ययमभिप्रायः।

(९)

इससे क्या अभिप्राय है ?

जिस स्वबीज से जिस प्रकार के आभासवाली विज्ञप्ति प्रवृत्त होती है, भगवान् ने उन दोनों को उस विज्ञप्ति के दो प्रकार के आयतन के रूप में बतलाया है ॥ ९ ॥

यहाँ क्या कहा गया है ?

रूप के समान आभासित होने वाली विज्ञप्ति, अपने जिस परिणाम विशेष प्राप्त बीज से उत्पन्न होती है, उस बीज तथा उस प्रतिभास, दोनों को, उस विज्ञप्ति के चक्षु एवं रूप आयतन के रूप में भगवान् ने कहा है। उसी प्रकार स्प्रष्टव्य के समान प्रतिभासित होने वाली विज्ञप्ति, जो परिणाम विशेष प्राप्त अपने बीज से उत्पन्न होती है, उस बीज तथा उस प्रतिभास, दोनों को उस (विज्ञप्ति) का कायायतन एवं स्प्रष्टव्यायतन के रूप में भगवान् ने बतलाया है। यही अभिप्राय है।

(१०)

एवं पुनरभिप्रायवशेन देशयित्वा को गुणः ?

तथा पुद्गलनैरात्म्यप्रवेशो हि—

तथा हि देश्यमाने पुद्गलनैरात्म्यं प्रविशन्ति । द्वयाद्विज्ञानषट्कं प्रवर्तते। न तु कश्चिदेको द्रष्टास्ति, न यावन्मन्तेत्येवं विदित्वा ये पुद्गलनैरात्म्यदेशनाविनेयास्ते पुद्गलनैरात्म्यं प्रविशन्ति ।

—अन्यथा पुनः ।

देशना धर्मनैरात्म्यप्रवेशः—

अन्यथेति विज्ञप्तिमात्रदेशना । कथं धर्मनैरात्म्यप्रवेशः ? विज्ञप्तिमात्रमिदं रूपादिधर्मप्रतिभासमुत्पद्यते न तु रूपादिलक्षणो धर्मः कोऽप्यस्तीति विदित्वा ।

यदि तर्हि सर्वथा धर्मो नास्ति तदपि विज्ञप्तिमात्रं नास्तीति, कथं तर्हि व्यवस्थाप्यते ? न खलु सर्वथा धर्मो नास्तीत्येवं धर्मनैरात्म्यप्रवेशो भवति । अपि तु—

—कल्पितात्मना ॥ १० ॥

यो बालैर्धर्माणां स्वभावो ग्राह्यग्राहकादिः परिकल्पितस्तेन कल्पितेनात्मना तेषां नैरात्म्यं, न त्वनभिलाप्येनात्मना यो बुद्धानां विषय इति । एवं विज्ञप्तिमात्रस्यापि विज्ञप्त्यन्तरपरिकल्पितेनात्मना नैरात्म्यप्रवेशात् विज्ञप्तिमात्रव्यवस्थापनया सर्वधर्माणां नैरात्म्यप्रवेशो भवति, न तु तदस्तित्वापवादात् । इतरथा हि विज्ञप्तेरपि विज्ञप्त्यन्तरमर्थः स्यादिति विज्ञप्तिमात्रत्वं न सिध्येतार्थवतीत्वाद्विज्ञप्तीनां ।

कथं पुनरिदं प्रत्येतव्यमनेनाभिप्रायेण भगवता रूपाद्यायतनास्तित्वमुक्तम् ? न पुनः सन्त्येव तानि यानि रूपादिविज्ञप्तीनां प्रत्येकं विषयीभवन्तीति ?

(१०)

(यहाँ पर प्रश्न होता है) इस प्रकार अभिप्रायवश (शिष्यों को) उपदेश देने में क्या लाभ है ?

'उस प्रकार (उपदेश देने से) पुद्गलनैरात्म्य में प्रवेश होता है' ।

उस प्रकार उपदेश देने से शिष्य पुद्गल नैरात्म्य में प्रवेश करते हैं । दो से विज्ञानषट्क की प्रवृत्ति होती है । न कोई द्रष्टा है, न मन्ता पर्यन्त ही कोई है, ऐसा जानकर जो पुद्गल नैरात्म्य की देशना है, उसमें विनीत होने योग्य जो प्राणी हैं, वे पुद्गल नैरात्म्य में प्रवेश करते हैं ।

'पुनः दूसरी (अन्यथा) प्रकार की देशना से धर्म नैरात्म्य में प्रवेश होता है' ।

'अन्यथा' का अर्थ है विज्ञप्तिमात्र की देशना । धर्म नैरात्म्य में प्रवेश कैसे होता है ? रूपादि धर्मों का जो प्रतिभास है, वह विज्ञप्तिमात्र है । रूपादि लक्षणों से युक्त कोई भी धर्म नहीं हैं, यह जानकर ।

यदि सभी धर्म सर्वथा नहीं हैं, तो विज्ञप्तिमात्र भी नहीं है, तो इसकी व्यवस्था कैसे होती है ? (अर्थात् उसमें क्या हेतु है कि विज्ञप्तिमात्र है तथा अन्य धर्म नहीं हैं)। धर्म सर्वथा नहीं हैं, इस रूप में धर्म नैरात्म्य में प्रवेश नहीं होता है। अपितु :—

—'कल्पित रूप से' ॥ १० ॥

अज्ञानियों द्वारा धर्मों के स्वभाव की जो कल्पना ग्राह्य-ग्राहक रूप में की गई है, उस कल्पित रूप में उनका नैरात्म्य (अवास्तविकता) है, न कि अनिर्वचनीय रूप में, जो बुद्धों का विषय है। इस प्रकार विज्ञप्तिमात्र को भी अन्य विज्ञप्ति के द्वारा परिकल्पित रूप में असत् समझने से, विज्ञप्तिमात्र की व्यवस्था होने से, (अर्थात् ग्राह्य-ग्राहक भाव रहित विज्ञप्तिमात्रता में प्रवेश करने से), सभी धर्मों के नैरात्म्य ज्ञान में प्रवेश होता है, न कि उनके अस्तित्व को ही न मानने से। अन्यथा विज्ञान का अन्य विज्ञान विषय हो जाय तो पुनः विज्ञप्तिमात्रता की सिद्धि कैसे होगी क्योंकि उससे तो विज्ञप्तियां अर्थवती अर्थात् विषय वाली सिद्ध हो जांयगी।

पुनः यह कैसे जाना जाय कि भगवान् ने इसी अभिप्राय से रूपादि आयतनों का अस्तित्व कहा है। यह क्यों न समझा जाय कि रूपादि वस्तुतः हैं, जो रूपादि विज्ञप्तियों के पृथक्-पृथक् विषय होते हैं।

(११)

यस्मात्—

न तदेकं न चानेकं विषयः परमाणुशः।
न च ते संहता यस्मात्परमाणुर्न सिध्यति ॥ ११ ॥

इति।

किमुक्तं भवति ? यत्तद्रूपादिकमायतनं रूपादिविज्ञप्तीनां प्रत्येकं विषयः स्यात्तदेकं वा स्याद्यथावयविरूपं कल्प्यते वैशेषिकैः अनेकं वा परमाणुशः संहता वा त एव परमाणवः।

न तावदेकं विषयो भवत्यवयवेभ्यो ऽन्यस्यावयविरूपस्य क्वचिदप्यग्रहणात्। नाप्येकं, परमाणूनां प्रत्येकमग्रहणात्। नापि ते संहता विषयीभवन्ति। यस्मात्परमाणुरेकं द्रव्यं न सिध्यति। कथं न सिध्यति ?

(११)

क्योंकि :—

वह विषय न अवयवी के रूप में एक है, न परमाणुओं के रूप में अनेक है। वह परमाणुओं का समूह भी नहीं हो सकता है, क्योंकि परमाणुओं की तो सिद्धि ही नहीं होती है ॥ ११ ॥

(यहाँ) क्या कहा गया है ? रूपादि आयतन जो रूपादि विज्ञप्तियों में से प्रत्येक का विषय होता है, वह या तो एक हो सकता है, जैसा कि वैशेषिक मतवाले अवयवी के रूप में मानते हैं, या परमाणुओं के रूप में अनेक हो सकता हैं, या उन परमाणुओं का समूह रूप हो सकता है।

एक अवयवी विषय नहीं हो सकता है, क्योंकि अवयवों से भिन्न अवयवी का कहीं ग्रहण नहीं होता है। परमाणुओं के रूप में अनेक भी नहीं हो सकता है, परमाणुओं का पृथक्-पृथक् एक-एक परमाणु के रूप में उपलब्धि नहीं होती है। न वे समुदाय रूप में ही विषय बनते हैं, क्योंकि परमाणु की ही एक द्रव्य के रूप में सिद्धि नहीं होती है। कैसे सिद्धि नहीं होती है ?

(१२)

यस्मात्—

षट्केन युगपद्योगात्परमाणोः षडंशता ।

षड्भ्यो दिग्भ्यः षड्भिः परमाणुभिर्युगपद्योगे सति परमाणोः षडंशता प्राप्नोति, एकस्य यो देशस्तत्रान्यस्यासंभवात् ।

षण्णां समानदेशत्वात् पिण्डः स्यादणुमात्रकः ॥ १२ ॥

अथ य एवैकस्य परमाणोर्देशः स एव षण्णां, तेन सर्वेषां समानदेशत्वात् सर्वः पिण्डः परमाणुमात्रः स्यात्परस्पराव्यतिरेकादिति न कश्चित्पिण्डो दृश्यः स्यात् । नैव हि परमाणवः संयुज्यन्ते निरवयवत्वात् ।

(१२)

क्योंकि :—

'एक साथ छ परमाणुओं का योग होने से परमाणु के छ अंश सिद्ध होते हैं'।

छः दिशाओं से छ परमाणुओं का एकसाथ योग होने पर परमाणु के छ भाग सिद्ध होते हैं, क्योंकि एक परमाणु का जो स्थान है, वहाँ (उसी स्थान में) दूसरे का होना असंभव है।

'छः परमाणुओं का यदि एक ही स्थान माना जाय तो वह पिण्ड अणुमात्र सिद्ध होगा' ॥ १२ ॥

यहां जो एक परमाणु का स्थान है, वही ही छः परमाणुओं का स्थान माना जाय, तो (सभी परमाणुओं का एक स्थान होने के कारण) समस्त पिण्ड ही परमाणु मात्र बन जायगा, क्योंकि (वहां) एक दूसरे से पार्थक्य नहीं रहेगा, फलतः कोई भी पिण्ड दृश्य नहीं होगा। निरवयव होने के कारण परमाणुओं का योग ही नहीं हो सकता।

(१३)

मा भूदेष दोषप्रसङ्गः। संहतास्तु परस्परं संयुज्यन्त इति काश्मीरवैभाषिकाः। त इदं प्रष्टव्याः। यः परमाणूनां संघातो न स तेभ्योऽर्थान्तरमिति।

परमाणोरसंयोगे तत्संघातेऽस्ति कस्य सः।

संयोग इति वर्तते।

न चानवयवत्वेन तत्संयोगो न सिध्यति ॥ १३ ॥

अथ सङ्घाता अप्यन्योन्यं न संयुज्यन्ते। न तर्हि परमाणूनां निरवयवत्वात्संयोगो न सिध्यतीति वक्तव्यम्।

सावयवस्यापि हि सङ्घातस्य संयोगानभ्युपगमात्। तस्मात्परमाणुरेकं द्रव्यं न सिध्यति।

यदि च परमाणोः संयोग इष्यते यदि वा नेष्यते।

(१३)

यहां ऐसा दोष नहीं हो सकता है। काश्मीर वैभाषिक मतवाले ऐसा मानते हैं कि वे (परमाणु) समुदाय भूत होकर परस्पर युक्त होते हैं। उनसे ऐसा प्रश्न करना चाहिए। जो परमाणुओं का समुदाय है, वह तो उन परमाणुओं से भिन्न वस्तु नहीं है।

'जब परमाणुओं का संयोग नहीं है तो उनके (परमाणुओं के) संघात में वह (संयोग) किसका होता है। यहां पर संयोग शब्द की अनुवृत्ति है।

निरवयव होने से परमाणुओं का संयोग सिद्ध नहीं होता है' ॥ १३ ॥

यदि ऐसा कहा जाय कि परमाणुओं के समुदाय भी परस्पर संयुक्त नहीं हो सकते तो निरवयव होने से परमाणुओं का संयोग सिद्ध नहीं होता है, यह

नहीं कहना चाहिए। क्योंकि सावयव परमाणुसमुदाय में भी संयोग की प्राप्ति नहीं होती है। अतः परमाणु एक द्रव्य है, (ऐसा) सिद्ध नहीं होता।

यदि परमाणु का संयोग इष्ट हो या इष्ट नहीं हो, (तो भी) :—

(१४)

दिग्भागभेदो यस्यास्ति तस्यैकत्वं न युज्यते।

अन्यो हि परमाणोः पूर्वदिग्भागो यावदधो—दिग्भाग इति दिग्भागभेदे सति कथं तदात्मकस्य परमाणोरेकत्वं योत्स्यते।

छायावृती कथं वा——

यद्येकैकस्य परमाणोर्दिग्भागभेदो न स्यादादित्योदये कथमन्यत्र छाया भवत्यन्यत्रातपः ? न हि तस्यान्यः प्रदेशो ऽस्ति यत्रातपो न स्यात्। आवरणं च कथं भवति परमाणो परमाण्वन्तरेण यदि दिग्भागभेदो नेष्यते ? न हि कश्चिदपि परमाणोः परभागो ऽस्ति यत्रागमनादन्येनान्यस्य प्रतिघातः स्यात्। असति च प्रतिघाते सर्वेषां समानदेशत्वात्सर्वः सङ्घातः परमाणुमात्रः स्यादित्युक्तम्।

किमेवं नेष्यते पिण्डस्य ते छायावृती न परमाणोरिति। किं खलु परमाणुभ्योऽन्यः पिण्ड इष्यते यस्य ते स्याताम्॥

नेत्याह—

——अन्यो न पिण्डश्चेन्न तस्य ते ॥ १४ ॥

यदि नान्यः परमाणुभ्यः पिण्ड इष्यते न ते तस्येति सिद्धं भवति।

सन्निवेशपरिकल्प एषः, परमाणुः सङ्घात इति वा, किमनया चिन्तया, लक्षणं तु रूपादि यदि न प्रतिषिध्यते ? किं पुनस्तेषां लक्षणं ? चक्षुरादिविषयत्वं नीलादित्वं च।

यदेवेदं सम्प्रधार्यते। यत्तच्चक्षुरादीनां विषयो नीलपीतादिकमिष्यते किं तदेकं द्रव्यमथवा तदनेकमिति ? किं चातः ?

(१४)

जिसमें दिशाओं के भेद से भिन्नता है, उसका एकत्व भाव सिद्ध नहीं होता है'।

जब परमाणु को पूर्वदिग्भाग अधोदिग्भागपर्यन्त दिग्भेद हैं, तो दिशाओं के भाग से भेद होने पर उन भागों से युक्त परमाणु का एकत्व कैसे सिद्ध हो सकता है ?

'या छायावृत्ति कैसे हो सकती है······?

यदि एक एक परमाणु को दिशाभागजन्य भेद न हो तो सूर्य के उदय के समय छाया अन्यत्र एवं आतप अन्यत्र उपलब्ध क्यों होते हैं? (क्योंकि) उसका (परमाणु का) कोई अन्य प्रदेश नहीं है, जहां आतप न हो। जब दिग्भागजन्य भेद इष्ट नहीं है, तब एक परमाणु से दूसरे परमाणु का आवरण कैसे होता है? परमाणु का कोई परवर्त्ती (पृष्ठभाग) नहीं है, जहाँ नहीं जाने से दूसरे परमाणु से दूसरे परमाणु का प्रतिघात हो और प्रतिघात न होने से सभी परमाणुओं के समानदेशस्थ होने के कारण सभी संघात परमाणुमात्र हो जायेंगे; यह कहा जा चुका है।

(इस पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है) ऐसा क्यों न समझा जाय कि वह छाया तथा आवरण पिण्ड के हैं, परमाणु के नहीं हैं।

(इसका उत्तर है कि) क्या परमाणुओं से यह पिण्ड भिन्न है, जिसके वे छाया तथा आवरण हैं'? नहीं हैं।

(इस अभिप्राय से) कहा गया है:—

यदि परमाणुओं से पिण्ड भिन्न नहीं है, तो उस (पिण्ड) के भी वे (छाया तथा आवरण) नहीं हो सकते, यह सिद्ध होता है॥ १४॥

यदि परमाणुओं से पिण्ड भिन्न नहीं है, तो वे छाया एवं आवरण उस पिण्ड के भी नहीं हो सकते हैं।

यह सन्निवेश परिकल्पना है, अर्थात् उस बाह्य वस्तु के स्वरूप सम्बन्धी विचार है। इस प्रकार की चिन्ता से क्या लाभ कि यह परमाणु है या उनका संघात है, जब वस्तुओं के लक्षण रूपादि धर्मों का निषेध नहीं होता है। पुनः पदार्थों का क्या लक्षण है? चक्षु आदि का विषय होना तथा नीलादि के रूप में प्राप्त होना।

उसी के विषय में यहाँ विचार किया जाता है। वह जो चक्षु आदिका विषय नील पीतादि के रूप में इष्ट है, वह क्या एक द्रव्य है, अथवा अनेक है? इससे क्या? (अर्थात् इस प्रश्न के द्वारा आपकी क्या विवक्षा है?)

(१५)

अनेकत्वे दोष उक्तः—

एकत्वे न क्रमेणेतिर्युगपन्न ग्रहाग्रहौ।

विच्छिन्नानेकवृत्तिश्च सूक्ष्मानीक्षा च नो भवेत्॥ १५॥

यदि यावदविच्छिन्नं नानेकं चक्षुषो विषयस्तदेकं द्रव्यं कल्प्यते पृथिव्यां क्रमेणेतिर्न स्याद्गमनमित्यर्थः। सकृत्पादक्षेपणे सर्वस्य गत-

त्वात्। अर्वाग्भागस्य च ग्रहणं परभागस्य चाग्रहणं युगपन्न स्यात्। न हि तस्यैव तदानीं ग्रहणं चाग्रहणं च युक्तम्। विच्छिन्नस्य चानेकस्य हस्त्यश्वादिकस्यैकत्र[1] वृत्तिर्न स्याद्यत्रैव ह्येकं तत्रैवापरमिति कथं तयोर्विच्छेद इष्यते। कथं वा तदेकं यत्प्राप्तं च ताभ्यां न च प्राप्तमन्तराले तच्छून्यग्रहणात्। सूक्ष्माणां चौदकजन्तूनां स्थूलैः समानरूपाणामनीक्षणं न स्यात्। यदि लक्षणभेदादेव द्रव्यान्तरत्वं कल्प्यते नान्यथा, तस्मादवश्यं परमाणुशो भेदः कल्पयितव्यः। स चैको न सिध्यति। तस्यासिद्धौ रूपादीनां चक्षुरादिविषयत्वमसिद्धमिति सिद्धं विज्ञप्तिमात्रं भवतीति।

(१५)

अनेकत्त्व में दोष तो पहले कह दिया गया है।

एक मानने से क्रम से गमन नहीं हो सकता। एक ही साथ (पदार्थों के किसी अंश का) ग्रहण तथा (किसी अंश) का अग्रहण नहीं हो सकता। न तो विच्छेद से युक्त अनेक पदार्थों का अस्तित्व ही हो सकता है, न सूक्ष्म पदार्थों के अदर्शन की ही प्राप्ति हो सकती है ॥ १५ ॥

यदि विच्छेद और अनेकता से रहित चक्षु के विषय को एक द्रव्य माना जाता है, तो पृथ्वी में क्रम से गमन नहीं हो सकता है। एक ही बार पृथ्वी पर पैर रखने से समस्त पृथ्वी पर गमन हो जाय। साथ ही अग्रभाग का ग्रहण तथा परभाग का अग्रहण नहीं हो सकेगा क्योंकि एक ही पदार्थ का एक ही समय में ग्रहण तथा अग्रहण युक्त नहीं। विच्छेदयुक्त अनेक हाथी-घोड़े आदि का एक स्थान पर (आप के अभिप्रायानुसार जो एक है) अस्तित्व प्राप्त नहीं हो सकता है, क्योंकि जहाँ पर एक है, वहीं पर दूसरों को भी स्थित मानने पर दोनों में पार्थक्य (व्यवच्छेद) कैसे माना जा सकता है? वह वस्तु एक कैसे हो सकती है, जो दोनों से प्राप्त तथा अप्राप्त है क्योंकि उन दोनों के बीच में उन दोनो से शून्य पृथ्वी का ग्रहण होता है। स्थूल (पदार्थों) के समानरूप वाले सूक्ष्म जलजन्तुओं का अदर्शन नहीं होगा। यदि लक्षण के भेद से द्रव्यन्तरता होती है, अन्यथा नहीं, ऐसा मानें, तो परमाणुशः भेद अवश्य मानना पड़ेगा। (पर) वह परमाणु एक नहीं सिद्ध होता है। उसकी सिद्धि न होने पर रूपादि का चक्षु आदि का विषयत्व भी असिद्ध है। अतः विज्ञप्तिमात्र का ही अस्तित्व सिद्ध होता है।

---

१. A. B. अनेकत्र।

(१६)

प्रमाणवशादस्तित्वं नास्तित्वं वा निर्धार्यते। सर्वेषां च प्रमाणानां प्रत्यक्षं प्रमाणं गरिष्ठमित्यसत्यर्थे कथमियं बुद्धिर्भवति प्रत्यक्षमिति ?

प्रत्यक्षबुद्धिः स्वप्नादौ यथा—

विनाप्यर्थेनेति पूर्वमेव ज्ञापितम्।

—सा च यदा तदा।

न सोऽर्थो दृश्यते तस्य प्रत्यक्षत्वं कथं मतम् ॥ १६ ॥

यदा च सा प्रत्यक्षबुद्धिर्भवतीदं मे प्रत्यक्षमिति तदा न सोऽर्थो दृश्यते।

मनोविज्ञानेनैव परिच्छेदाच्चक्षुर्विज्ञानस्य च तदा निरुद्धत्वादिति कथं तस्य प्रत्यक्षत्वमिष्टम् ? विशेषेण तु क्षणिकस्य विषयस्य तदानीं निरुद्धमेव तद्रूपं रसादिकं वा।

(१६)

(इस पर प्रश्न होता है)। प्रमाण के द्वारा ही किसी पदार्थ के होने या न होने का निश्चय होता है। सभी प्रमाणों में प्रत्यक्ष प्रमाण श्रेष्ठ है। अतः पदार्थ के न होने पर–'यह प्रत्यक्ष है'—ऐसा ज्ञान कैसे होता है ?

(इसका उत्तर है कि)

'स्वप्नादि (अवस्थाओं) में जैसे प्रत्यक्ष बुद्धि होती है'।

यह पहले दर्शाया जा चुका है कि (स्वप्नादि में) विषय के विना ही विषयज्ञान अर्थात् प्रत्यक्षबुद्धि होती है।

……'वह (प्रत्यक्षबुद्धि) जब होती है, उस समय तो वह विषय दृश्यमान नहीं रहता है, तब उसका प्रत्यक्ष कैसे सिद्ध है' ? ॥ १६ ॥

जब प्रत्यक्ष बुद्धि होती है कि 'मुझे इस पदार्थ का प्रत्यक्ष हो रहा है' उस समय वह पदार्थ दृश्यमान नहीं रहता है, क्योंकि उस समय चक्षुविज्ञान निरुद्ध हो जाता है और मनोविज्ञान से ही उसके प्रत्यक्षत्व का निश्चय किया जाता है। अतः उस विषय का प्रत्यक्ष कैसे इष्ट है ? विशेषकर क्षणिक विषय के प्रत्यक्ष बुद्धि के समय तो वे रूप रसादि निरुद्ध रहते ही हैं।

(१७)

नाननुभूतं मनोविज्ञानेन स्मर्यत 'इत्यवश्यमर्थानुभवेन भवितव्यं तच्च दर्शनमित्येवं तद्विषयस्य रूपादेः प्रत्यक्षत्वं मतम्।

असिद्धमिदमनुभूतस्यार्थस्य स्मरणं भवतीति।

यस्मात्—

उक्तं यथा तदाभासा विज्ञप्तिः—

विनाप्यर्थेन यथार्थाभासा चक्षुर्विज्ञानादिका विज्ञप्तिरुत्पद्यते तथोक्तम्—

—स्मरणं ततः।

ततो हि विज्ञप्तेः स्मृतिसम्प्रयुक्ता तत्प्रतिभासैव रूपादिविकल्पिका मनोविज्ञप्तिरुत्पद्यत इति न स्मृत्युत्पादादर्थानुभवः सिध्यति।

यदि यथा स्वप्ने विज्ञप्तिरभूतार्थविषया तथा जाग्रतोऽपि स्यात्तथैव तदभावं लोकः स्वयमवगच्छेत्। न चैवं भवति। तस्मान्न स्वप्न इवार्थोपलब्धिः सर्वा निरर्थिका। इदमज्ञापकम्। यस्मात्—

स्वप्न दृग्विषयाभावं नाप्रबुद्धोऽवगच्छति॥ १७॥

एवं वितथविकल्पाभ्यासवासनानिद्रया प्रसुप्तो लोकः स्वप्न इवाभूतमर्थं पश्यन्न प्रबुद्धस्तदभावं यथावन्नावगच्छति। यदा तु तत्प्रतिपक्षलोकोत्तरनिर्विकल्पज्ञानलाभात् प्रबुद्धो भवति तदा तत्पृष्ठलब्धशुद्धलौकिकज्ञानसंमुखीभावाद्विषयाभावं यथावदवगच्छतीति समानमेतत्।

(१७)

विना अनुभव के मनोविज्ञान से स्मरण नहीं हो सकता, इसलिए विषय के अनुभव से ही (वैसा ज्ञान) होना समझना चाहिए और वह भी दर्शन के रूप में ही। इस प्रकार चक्षुविज्ञान के विषय रूपादि का प्रत्यक्षत्व माना जाता है।

किन्तु यही बात सिद्ध नहीं है कि पूर्वानुभूत विषय का स्मरण होता है। क्योंकि :—

'जैसे उस (वस्तु) के आभास वाली विज्ञप्ति होती है, यह पहले ही कहा जा चुका है'।

विषय के विना भी उस विषय के आभास वाली चक्षुविज्ञानदि-जन्य विज्ञप्ति उत्पन्न होती है, यह कहा जा चुका है।

......'उसी से स्मरण होता है'।

उसी विज्ञप्ति से स्मृतियुक्त उस विषय के प्रतिभासवाली रूपादि विविध रूपों में मनोविज्ञप्ति उत्पन्न होती है। इसलिए स्मृति की उत्पत्ति से वास्तविक वस्तु का अनुभव सिद्ध नहीं होता।

(इस पर प्रश्न होता है) जिस प्रकार स्वप्न में जो विज्ञप्ति होती है, वह असत् वस्तु विषयक है, उसी प्रकार जाग्रत अवस्था में भी होवे, तो स्वप्न के समान ही जाग्रत अवस्था के पदार्थ का भी अभाव है, ऐसा लोग स्वयं समझ जांय। किन्तु ऐसा नहीं होता है। अतः स्वप्न के समान सभी वस्तुओं की उपलब्धियों को विषयरहित नहीं कहा जा सकता है।

(इसका उत्तर यह है कि) यह युक्ति ठीक नहीं है। क्योंकि :—

'स्वप्न में देखे हुए वस्तुओं के अभाव को विना जगे हुए मनुष्य नहीं जान पाता' ॥ १७ ॥

इसी प्रकार मिथ्या विकल्पों के अभ्यास की वासनारूपी निद्रा में सोया हुआ मनुष्य स्वप्न के समान अवास्तविक वस्तुओं को देखता हुआ, विना तत्त्व-ज्ञानजन्य जागृति को प्राप्त किए उनके अभाव को यथार्थतः नहीं जान पाता। किन्तु जब उस मिथ्या विकल्प के प्रतिपक्ष निर्विकल्प लोकोत्तर ज्ञान की प्राप्ति से मनुष्य जाग्रत हो जाता है तब उसके अनन्तर प्राप्त शुद्ध लौकिक ज्ञान के वास्तविक रूप को समझने से विषय के अभाव को यथार्थतः समझ लेता है। (इसलिए जो बात स्वप्न में देखे गये विषयों के सम्बन्ध में है कि वे जाग्रत अवस्था की प्राप्ति से वैसा नहीं देखे जाते हैं, वही बात जाग्रत अवस्था में अनुभूत पदार्थों के सम्बन्ध में भी है)।

(१८)

यदि स्वसंतानपरिणामविशेषादेव सत्वानामर्थप्रतिभासा विज्ञप्तय उत्पद्यन्ते नार्थविशेषात्, तदा य एष पापकल्याणमित्रसम्पर्कात्सद-सद्धर्मश्रवणाच्च विज्ञप्तिनियमः सत्त्वानां स कथं सिध्यति असति सद-सत्सम्पर्के तद्देशनायां च।

अन्योन्याधिपतित्वेन विज्ञप्तिनियमो मिथः।

सर्वेषां हि सत्त्वानामन्योन्यविज्ञप्त्याधिपत्येन मिथो विज्ञप्तेर्नियमो भवति यथायोगम्। मिथ इति परस्परतः। अतः सन्तानान्तरविज्ञप्ति-विशेषात् सन्तानान्तरे विज्ञप्तिविशेष उत्पद्यते नार्थविशेषात्।

यदि यथा स्वप्ने निरर्थिका विज्ञप्तिरेवं जाग्रतोऽपि स्यात् कस्मात्कु-शलाकुशलसमुदाचारे सुप्तासुप्तयोस्तुल्यं फलमिष्टानिष्टमायत्यां न भवति? यस्मात्—

मिद्धेनोपहतं चित्तं स्वप्ने तेनासमं फलम् ॥ १८ ॥

इदमत्र कारणं न त्वर्थसद्भावः।

(१८)

(इस पर प्रश्न होता है) यदि अपने चित्त सन्तान के परिणामविशेष से प्राणियों को अर्थाभास विज्ञप्तियाँ उत्पन्न होती हैं, अर्थविशेष से नहीं, तो पापी एवं धर्मात्मा मित्रों के सम्पर्क से तथा सत्य और मिथ्या धर्मों को सुनने से प्राणियों को विविध प्रकार की विज्ञप्तियों के होने का नियम है, वह बिना पाप तथा कल्याण-मित्रों के सम्पर्क तथा सद्धर्म अधर्म के उपदेश के ही कैसे सिद्ध होगा ? इसका उत्तर है कि—

'अन्योन्य आधिपत्य से परस्पर विज्ञप्ति का नियम है'।

सभी प्राणियों के परस्पर विज्ञानों के प्रभाव से परस्पर विज्ञानों में यथा-योग्य विशेषता होती है। 'मिथः' शब्द का अर्थ है परस्पर। अतः अन्य चित्त-सन्तान की विज्ञप्ति की विशेषता से ही अन्य चित्तसन्तान में विज्ञप्तिविशेष उत्पन्न होती है, बाह्य वस्तु की विशेषता से नहीं।

यदि जिस प्रकार स्वप्न में विज्ञप्ति विषयरहित है, उसी प्रकार जाग्रत की भी विज्ञप्ति होवे तो कुशल एवं अकुशल कर्मों के साथ सम्बन्ध होने पर सुप्त तथा असुप्त दोनों को भविष्यत् काल में एक ही समान इष्ट या अनिष्ट फल क्यों नहीं होता है ?

(इसका उत्तर है कि)—क्योंकि :—

'स्वप्न में चित्त मिद्ध से उपहत रहता है, इसलिए फल समान नहीं होता है ॥ १८ ॥

इसमें यही कारण है, न कि पदार्थ की वास्तविक सत्ता।

(१९)

यदि विज्ञप्तिमात्रमेवेदं न कस्यचित्कायोऽस्ति न वाक्, कथमुप-क्रम्यमाणानामौरभ्रिकादिभिरुरभ्रादीनां मरणं भवति? अतत्कृते वा तन्म-रणे कथमौरभ्रिकादीनां प्राणातिपातावद्येन योगो भवति ?

मरणं परविज्ञप्तिविशेषाद्विक्रिया यथा ।
स्मृतिलोपादिकान्येषां पिशाचादिमनोवशात् ॥ १९ ॥

यथा हि पिशाचादिमनोवशादन्येषां स्मृतिलोपस्वप्नदर्शनभूतग्रहा-वेशविकारा भवन्ति ऋद्धिवन्मनोवशाच्च। यथा सारणस्यार्यमहाकात्या-यनाधिष्ठानात्स्वप्नदर्शनम्। आरण्यकर्षिमनःप्रदोषाच्च वेमचित्र-पराजयः। तथा परविज्ञप्तिविशेषाधिपत्यात्परेषां जीवितेन्द्रियविरोधिनी काचिद्विक्रियोत्पद्यते यया सभागसन्ततिविच्छेदाख्यं मरणं भवतीति वेदितव्यम्।

(१९)

यदि सब कुछ विज्ञप्तिमात्र ही है, न किसी का काय है, न किसी का वाक्, तो भेड़ें आदि जन्तुओं के वधकों द्वारा मारे जाने पर भेड़ आदि जन्तुओं का मरण क्यों होता है ? यदि उन वधकों का यह वधकृत्य वस्तुतः नहीं है, तो उन वधकों का प्राणिहिंसा के पाप से सम्बन्ध क्यों होता है ?

'मरण दूसरी विज्ञप्ति के प्रभाव से उत्पन्न एक विकृतिमात्र है। जैसे कि पिशाचादि के मन के प्रभाव से दूसरों का स्मृतिलोप आदि होता है, ॥ १९ ॥

जैसे पिशाचादि के द्वारा उत्पन्न मनोदशा से दूसरों को स्मृतिलोप, स्वप्न-दर्शन, भूतग्रहावेश आदि विकार उत्पन्न होते हैं तथा ऋद्धिमान पुरुषों के मनोबल से भी। (पुनः) यथा आर्य महाकात्यायन की प्रेरणा से सारण को स्वप्नदर्शन हुआ था। आरण्यक ऋषियों के मनोदोष से वेमचित्र का पराजय हुआ था। उसी प्रकार दूसरों की विज्ञप्ति विशेष के प्रभाव से दूसरों के अन्तर्गत जीवितेन्द्रिय विरोधिनी एक विक्रिया उत्पन्न होती है, जिससे सभाग सन्ततिविच्छेदरूप मरण होता है, यह ऐसा जानना चाहिए।

(२०)

कथं वा दण्डकारण्यशून्यत्वमृषिकोपतः।

यदि परविज्ञप्तिविशेषाधिपत्यात्सत्त्वानां मरणं नेष्यते, मनोदण्डस्य हि महासावद्यत्वं साधयता भगवतोपालिर्गृहपतिः पृष्टः-कच्चित्ते गृहपते, श्रुतं केन तानि दण्डकारण्यानि मातङ्गारण्यानि कलिङ्गारण्यानि शून्यानि मेध्यीभूतानि। तेनोक्तम्। श्रुतं मे भो गौतम, ऋषीणां मनःप्रदोषेणेति।

मनोदण्डो महावद्यः कथं वा तेन सिध्यति ॥ २० ॥

यद्येवं कल्प्यते। तदभिप्रसन्नैरमानुषैस्तद्वासिनः सत्त्वा उत्सादिता तु ऋषीणां मनःप्रदोषान्मृता इत्येवं सति कथं तेन कर्मणा मनोदण्डः कायवाग्दण्डाभ्यां महावद्यतमः सिद्धो भवति ? तन्मनः प्रदोषमात्रेण तावतां सत्त्वानां मरणात् सिध्यति ?

(२०)

'दण्डकारण्य की शून्यता ऋषिकोप से क्यों हुई' ?

यदि दूसरों की विज्ञप्ति विशेष के प्रभाव से प्राणियों का मरण इष्ट नहीं है, तो मनोदण्ड को महान् पाप सिद्ध करते हुए भगवान् ने गृहपति उपालि से जो

पूछा था कि हे गृहपति ! क्या तुमनें सुना है कि वे दण्डकारण्य, मातङ्गारण्य, कलिङ्गारण्य किस प्रकार शून्य हो गये तो उन्होंने कहा था कि हे गौतम ! मैंने सुना है कि ऋषियों के मन के दोष से ऐसा हुआ था (तो यह उनका कथन कैसे संगत हो सकता है)।

(अथवा यदि दूसरों की विज्ञप्ति के प्रभाव से प्राणियों का मरण न माना जाय तो) मनोदण्ड का महान् पाप होना (जो उनका कहा हुआ है) कैसे सिद्ध होता है ॥ २० ॥

यदि इस प्रकार कल्पना की जाय। उस स्थान की ओर आकृष्ट मानवेतर प्राणियों द्वारा वहां के निवासी मारे गये, न कि ऋषियों के मन के दोष से, तो ऐसा होने से उस कर्म से मनोदण्ड, काय तथा वचीदण्ड से अधिक पाप का कारण कैसे सिद्ध होता है ? (इसका उत्तर है कि) उन ऋषियों के मनोदोषमात्र से उतने प्राणियों के मरण से वह सिद्ध होता है।

(२१)

यदि विज्ञप्तिमात्रमेवेदं परचित्तविदः, किं परचित्तं जानन्ति अथ न ? किञ्चातः। यदि न जानन्ति कथं परचित्तविदो भवन्ति ? अथ जानन्ति।

परचित्तविदां ज्ञानमयथार्थं कथं यथा।
स्वचित्तज्ञानं—

तदपि कथमयथार्थम् ?

—अज्ञानाद्यथा बुद्धस्य गोचरः ॥ २१ ॥

यथा तन्निरभिलाप्येनात्मना बुद्धानां गोचरः, तथा तदज्ञानात्तदुभयं न यथार्थं वितथप्रतिभासतया ग्राह्यग्राहकविकल्पस्याप्रहीणत्वात्। अनन्तविनिश्चयप्रभेदागाधगाम्भीर्यायां विज्ञप्तिमात्रतायाम्।

(२१)

यदि सब कुछ विज्ञप्तिमात्र ही है, तो पर चित्तविज्ञ दूसरों के चित्त को जानते हैं या नहीं ? इस प्रश्न से क्या विवक्षित है ? यह कि यदि वे नहीं जानते हैं, तो परचित्तविद् कैसे हैं ? यदि जानते हैं तो—

'परचित्तविदों का ज्ञान अयथार्थ कैसे है' ? (यथा) अपने चित्त का ज्ञान (अयाथर्थ है, वैसे ही दूसरों का)।

(इस पर प्रश्न किया जाय कि) कैसे अयथार्थ है ?

(इसका उत्तर है) अज्ञान से। जैसे बुद्ध को उसका ज्ञान है (वैसा परचित्तविदों का नहीं) ॥ २१ ॥

जिस प्रकार अनिर्वचनीय रूप में वह बुद्धों के ज्ञान का विषय है, उस प्रकार उसका ज्ञान न होने के कारण अपने तथा दूसरों के चित्त का ज्ञान दोनों अयथार्थ हैं क्योंकि मिथ्या प्रतिभास होने से ग्राह्य एवं ग्राहक का विकल्प परचित्तविज्ञों का भी नष्ट नहीं है। अनन्त विनिश्चयों के भेद वाली तथा अगाध गांभीर्य वाली यह विज्ञप्तिमात्रता है।

(२२)

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः स्वशक्तिसदृशी मया।
कृतेयं सर्वथा सा तु न चिन्त्या—

सर्वप्रकारा तु सा मादृशैश्चिन्तयितुं न शक्यते, तर्कविषयत्वात्। कस्य पुनः सा सर्वथा गोचर इत्याह—

—बुद्धगोचरः ॥ २२ ॥

बुद्धानां हि सा भगवतां सर्वप्रकारं गोचरः सर्वाकारसर्वज्ञेयज्ञानाविघातादिति।

विंशतिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः, कृतिरियमाचार्यवसुबन्धोः।

(२२)

'विज्ञप्तिमात्रता की यथाशक्ति मेरे द्वारा सिद्धि की गई। (किन्तु) वह चिन्ता के द्वारा पूर्णतः नहीं जानी जा सकती है'।

सभी प्रकार से मेरे जैसे मनुष्यों द्वारा उसका चिन्तन नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वह तर्क का विषय नहीं है।

तब सर्वप्रकार से वह किसके ज्ञान का विषय है? इस पर कहा जाता है:—

'(वह) बुद्धगोचर है' ॥ २२ ॥

वह बुद्ध को ही सभी प्रकार से ज्ञात है क्योंकि उनमें सब प्रकार के ज्ञेय वस्तुओं का ज्ञान अप्रतिहतरूप से विद्यमान है।

यह विंशतिका विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि समाप्त हुई (जो) आचार्य वसुबन्धु की कृति है।

विंशतिकाकारिका

विज्ञप्तिमात्रमेवैतदसदर्थावभासनात् ।
यथा तैमिरिकस्यासत्केशचन्द्रादिदर्शनम् ॥ १ ॥

अनर्थो यदि विज्ञप्तिर्नियमो देशकालयोः ।
सन्तानस्यानियमश्च युक्ता कृत्यक्रिया न च[1] ॥ २ ॥

देशादिनियमः सिद्धः स्वप्नवत् प्रेतवत् पुनः ।
सन्तानानियमः सर्वैः पूयनद्यादिदर्शने ॥ ३ ॥

स्वप्नोपघातवत् कृत्यक्रिया नरकवत् पुनः ।
सर्वं नरकपालादिदर्शने तैश्च बाधने ॥ ४ ॥

तिरश्चां सम्भवः स्वर्गे यथा न नरके तथा ।
न प्रेतानां यतस्तज्जं दुःखं नानुभवन्ति ते ॥ ५ ॥

यदि तत्कर्मभिस्तत्र भूतानां सम्भवस्तथा ।
इष्यते परिणामश्च किं विज्ञानस्य नेष्यते ॥ ६ ॥

कर्मणो वासनान्यत्र फलमन्यत्र कल्प्यते ।
तत्रैव नेष्यते यत्र वासना किं नु कारणम् ॥ ७ ॥

रूपाद्यायतनास्तित्वं, तद्विनेयजनं प्रति ।
अभिप्रायवशादुक्तमुपपादुकसत्त्ववत् ॥ ८ ॥

---

१. न देशकालनियमः सन्तानानियमो न च ।
न च कृत्यक्रिया युक्ता विज्ञप्तिर्यदि नार्थतः ॥

द. नै ६६६०

यतः स्वबीजाद्विज्ञप्तिर्यदाभासा प्रवर्त्तते ।
द्विविधायतनत्वेन ते तस्या मुनिरब्रवीत् ॥ ६ ॥

तथा पुद्गलनैरात्म्यप्रवेशो ह्यन्यथा पुनः ।
देशना धर्मनैरात्म्यप्रवेशः कल्पितात्मना ॥ १० ॥

न तदेकं न चानेकं विषयः परमाणुशः ।
न च ते संहता यस्मात् परमाणुर्न सिध्यति ॥ ११ ॥

षट्केन युगपद्योगात् परमाणोः षडंशता ।
षण्णां समानदेशत्वात् पिण्डः स्यादणुमात्रकः ॥ १२ ॥

परमाणोरसंयोगे तत्संघातेऽस्ति कस्य सः ।
न चानवयवत्वेन तत्संयोगो न सिध्यति ॥ १३ ॥

दिग्भागभेदो यस्यास्ति तस्यैकत्वं न युज्यते ।
छायावृती कथं वान्यो न पिण्डश्चेन्न तस्य ते ॥ १४ ॥

एकत्वे न क्रमेणेति युगपन्न ग्रहाग्रहौ ।
विच्छिन्नानेकवृत्तिश्च सूक्ष्मानीक्षा चनो भवेत् ॥ १५ ॥

प्रत्यक्षबुद्धिः स्वप्नादौ यथा सा च यदा तदा ।
न सोऽर्थो दृश्यते तस्य प्रत्यक्षत्वं कथं मतम् ॥ १६ ॥

उक्तं यथा तदाभासा विज्ञप्तिः स्मरणं ततः ।
स्वप्ने दृग्विषयाभावं नाप्रबुद्धोऽवगच्छति ॥ १७ ॥

अन्योन्याधिपतित्वेन विज्ञप्तिनियमो मिथः ।
मिद्धेनोपहतं चित्तं स्वप्ने तेनासमं फलम् ॥ १८ ॥

मरणं परविज्ञप्तिविशेषाद् विक्रिया यथा ।
स्मृतिलोपादिकान्येषां पिशाचादिमनोवशात् ॥ १६ ॥

कथं वा दण्डकारण्यशून्यत्वमृषिकोपतः ।
मनोदण्डो महावद्यः कथं वा तेन सिध्यति ॥ २० ॥

परचित्तविदां ज्ञानमयथार्थं कथं यथा ।
स्वचित्तज्ञानमज्ञानाद् यथा बुद्धस्य गोचरः ॥ २१ ॥

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः स्वशक्तिसदृशी मया ।
कृतेयं सर्वथा सा तु न चिन्त्या बुद्धगोचरः ॥ २२ ॥

विंशतिकाकारिका समाप्ता

त्रिंशिकाविज्ञप्तिभाष्यम्

पुद्गलधर्मनैरात्म्ययोरप्रतिपन्नविप्रतिपन्नानामविपरीतपुद्गलधर्मनैरात्म्यप्रतिपादनार्थं त्रिंशिकाविज्ञप्तिप्रकरणारम्भः।

पुद्गलनैरात्म्य एवं धर्मनैरात्म्य के विषय में जो अनभिज्ञ हैं या विपरीत ज्ञान रखने वाले हैं, उनको पुद्गलनैरात्म्य एवं धर्मनैरात्म्य का यथार्थ ज्ञान कराने के लिए त्रिंशिकाविज्ञप्ति-प्रकरण का प्रारम्भ होता है।

पुद्गलधर्मनैरात्म्यप्रतिपादनं पुनः क्लेशज्ञेयावरणप्रहाणार्थम्। तथा ह्यात्मदृष्टिप्रभवा रागादयः क्लेशाः। पुद्गलनैरात्म्यावबोधश्च सत्कायदृष्टेः प्रतिपक्षत्वात् तत्प्रहाणाय प्रवर्तमानः सर्वक्लेशान् प्रजहाति। धर्मनैरात्म्यज्ञानादपि ज्ञेयावरणप्रतिपक्षत्वात् ज्ञेयावरणं प्रहीयते। क्लेशज्ञेयावरणप्रहाणमपि मोक्षसर्वज्ञत्वाधिगमार्थम्। क्लेशा हि मोक्षप्राप्तेरावरणमिति, अतस्तेषु प्रहीणेषु मोक्षोऽधिगम्यते। ज्ञेयावरणमपि सर्वस्मिन् ज्ञेये ज्ञानप्रवृत्तिप्रतिबन्धभूतम् अक्लिष्टमज्ञानम्। तस्मिन् प्रहीणे सर्वाकारे ज्ञेयेऽसक्तमप्रतिहतं च ज्ञानं प्रवर्तत इत्यतः सर्वज्ञत्वमधिगम्यते।

अथवा धर्मपुद्गलाभिनिविष्टाश्चित्तमात्रं यथाभूतं न जानन्तीत्यतो धर्मपुद्गलनैरात्म्यप्रदर्शनेन सफले[1] विज्ञप्तिमात्रे आनुपूर्व्येण प्रवेशार्थं प्रकरणारम्भः।

अथवा विज्ञानवद्विज्ञेयमपि द्रव्यत एवेति केचिन्मन्यन्ते, विज्ञेयवद् विज्ञानमपि संवृतित एव, न परमार्थत इत्यस्य द्विप्रकारस्याप्येकान्तवादस्य प्रतिषेधार्थः प्रकरणारम्भः।

पुद्गलनैरात्म्य एवं धर्मनैरात्म्य का प्रतिपादन पुनः क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण के प्रहाण अर्थात् नाश के लिए है। राग आदि क्लेश आत्मदृष्टि से उत्पन्न होते हैं। पुद्गलनैरात्म्य का ज्ञान सत्कायदृष्टि का विरोधी होने के कारण उसके विनाश के लिए प्रवृत्त (साधक) के सभी क्लेश छूट जाते हैं। ज्ञेयावरण के प्रतिपक्षी धर्मनैरात्म्य के ज्ञान से ज्ञेयावरण नष्ट हो जाता है। क्लेशावरण

---

१. सकले''' पाठ उत्तम प्रतीत होता है।

तथा ज्ञेयावरण का प्रहाण, मोक्ष एवं सर्वज्ञता की प्राप्ति (अधिगम) के लिए है। क्लेश मोक्षप्राप्ति में बाधक हैं, अतः उनके नष्ट हो जाने से मोक्ष का अधिगम होता है। ज्ञेयावरण सभी ज्ञेय पदार्थों के ज्ञान की प्रवृत्ति में बाधक अक्लिष्ट अज्ञान है। उसके प्रहाण से समस्त ज्ञेय पदार्थों का अपरोक्ष निर्बाध और स्पष्ट ज्ञान होता है, जिससे सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है।

अथवा धर्म एवं पुद्गल के आग्रह में पड़े हुए (मनुष्य) चित्त को यथार्थतः नहीं जानते हैं, इसलिए धर्मनैरात्म्य एवं पुद्गलनैरात्म्य के दर्शन से सफल विज्ञप्तिमात्रता में प्रवेश के लिए प्रकरण का प्रारम्भ होता है।

अथवा विज्ञान के समान विज्ञेय भी वास्तविक है, ऐसा कुछ लोग मानते हैं, विज्ञेय के समान विज्ञान भी सांवृतिक है, पारमार्थिक नहीं, (ऐसा भी कुछ लोगों का मत है), इन दो प्रकार के एकान्तवादों के निषेध के लिए प्रकरण का प्रारम्भ होता है।

आत्मधर्मोपचारो हि विविधो यः प्रवर्तते।

लोकशास्त्रयोरिति वाक्यशेषः।

विज्ञानपरिणामेऽसौ—

आत्मधर्मोपचार इति संबध्यते। आत्मा धर्माश्चोपचर्यन्त इत्यात्मधर्मोपचारः। स पुनरात्मप्रज्ञप्तिर्[1] धर्मप्रज्ञप्तिश्च। विविध इत्यनेकप्रकारः। आत्मा जीवो जन्तुर्मनुजो मानव इत्येवमादिक आत्मोपचारः। स्कन्धा धातव आयतनानि रूपं वेदना संज्ञा संस्कारा विज्ञानमित्येवमादिको धर्मोपचारः। अयं द्विप्रकारोऽप्युपचारो विज्ञानपरिणाम एव, न मुख्ये आत्मनि धर्मेषु चेति।

कुत एतत्?

धर्माणामात्मनश्च विज्ञानपरिणामाद् बहिरभावात्।

कोऽयं परिणामो नाम?

अन्यथात्वम्। कारणक्षणनिरोधसमकालः कारणक्षणविलक्षणकार्यस्यात्मलाभः परिणामः।

'आत्मा एवं धर्म का उपचार (व्यवहार) जो विविध प्रकार का होता है'।

लोक और शास्त्र में यह वाक्य शेष है।

'वह विज्ञान के परिणाम के अन्तर्गत है'।

---

१. विज्ञप्ति।

आत्मा तथा धर्म के उपचार का यहां सम्बन्ध है। आत्मा तथा धर्म का जो उपचार होता है, उसे आत्मधर्मोपचार कहते हैं। उसे आत्मप्रज्ञप्ति तथा धर्मप्रज्ञप्ति भी कहते हैं। विविध शब्द का अर्थ है अनेक प्रकार। आत्मा, जीव, जन्तु, मनुज, मानव इत्यादि आत्मा का उपचार है।

स्कन्ध, आयतन, धातु, रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान आदि धर्मोपचार हैं। ये दोनों प्रकार के उपचार विज्ञान के परिणाम में ही होते हैं, आत्मा और धर्म में नहीं।

यह क्यों ?

धर्म और आत्मा का विज्ञान के परिणाम से बाहर अभाव है।

यह परिणाम क्या है ?

अन्यरूप में हो जाना ही। कारणक्षण के विनाश काल में ही, कारणक्षण से विलक्षण कार्यक्षण की उत्पत्ति ही परिणाम है।

तत्रात्मादिविकल्पवासनापरिपोषाद् रूपादिविकल्पवासनापरिपोषाच्चालयविज्ञानादात्मादिनिर्भासो विकल्पो रूपादिनिर्भासश्चोत्पद्यते। तमात्मादिनिर्भासं रूपादिनिर्भासं च तस्माद् विकल्पाद् बहिर्भूतमिवोपादायात्माद्युपचारो रूपादिधर्मोपचारश्चानादिकालिकः प्रवर्तते विनापि बाह्येनात्मना धर्मैश्च। तद्यथा तैमिरिकस्य केशोण्डुकाद्युपचार इति। यच्च यत्र नास्ति तत् तत्रोपचर्यते। तद् यथा वाहीके गौः। एवं विज्ञानस्वरूपे बहिश्चात्मधर्माभावात् परिकल्पित एवात्मा धर्माश्च, न तु परमार्थतः सन्तीति विज्ञानवद् विज्ञेयमपिद्रव्यत[1] एवेत्ययमेकान्तवादो नाभ्युपेयः।

आत्मादि विकल्पवासना तथा रूपादि विकल्पवासना की परिपुष्टि के कारण आलयविज्ञान से आत्मादि आकारक तथा रूपादि आकारक विकल्प उत्पन्न होता है। उस आत्मादि तथा रूपादि की प्रतीति को उस विकल्प से पृथक् जैसा मानकर आत्मादि तथा रूपादि धर्मों का आरोप अनादि काल से आत्मा एवं धर्मों के बाह्य अस्तित्व के बिना ही प्रवृत्त होता है। यथा तिमिरव्याधि से ग्रस्त मनुष्य को सर्वत्र केशगुच्छ के दर्शन होते हैं (जो वस्तुतः विद्यमान नहीं है)। (यह उपचार क्या है ?) जो पदार्थ जहाँ नहीं हैं, वहाँ उनके होने का आरोप होता है। यथा वाहीक में बैल का उपचार होता है। इस प्रकार विज्ञान के स्वरूप के अन्तर्गत तथा बाहर भी आत्मा

---

१. A. विज्ञेयमप्युच्यत।

एवं धर्मों का अभाव होने से आत्मा एवं धर्म कल्पनामात्र हैं, परमार्थतः उनका अस्तित्व नहीं है, इसलिए विज्ञान के समान विज्ञेय भी वास्तविक है यह एकान्तवाद अभ्युपेय नहीं है।

उपचारस्य च निराधारस्यासंभवात् अवश्यं विज्ञानपरिणामो वस्तुतोऽस्तीत्युपगन्तव्यो[1] यत्रात्मधर्मोपचारः प्रवर्तते। अतश्चायमुपगमो न युक्तिक्षमो विज्ञानमपि विज्ञेयवत् संवृतित एव, न परमार्थत इति। संवृतितोऽप्यभावप्रसङ्गान् न हि संवृतिर्निरुपादाना युज्यते। तस्मादयमेकान्तवादो द्विप्रकारोऽपि निर्युक्तिकत्वात् त्याज्य इत्याचार्यवचनम्।

एवं च सर्वं विज्ञेयं परिकल्पितस्वभावत्वात् वस्तुतो न विद्यते, विज्ञानं पुनः प्रतीत्यसमुत्पन्नत्वाद् द्रव्यतोऽस्तीत्यभ्युपेयम्। प्रतीत्यसमुत्पन्नत्वं पुनर् विज्ञानस्य परिणामशब्देन ज्ञापितम्।

उपचार निराधार नहीं हो सकता, इसलिए विज्ञान के परिणाम को अवश्य वास्तविक समझना चाहिए, जिसके अन्तर्गत आत्मा एवं धर्म का उपचार होता है। अतः यह मानना युक्तिसंगत नहीं है कि विज्ञान भी विज्ञेय के समान सांवृतिक है, पारमार्थिक नहीं। (ऐसा स्वीकार करने से) संवृति रूप में भी उनका अभाव प्राप्त होने लगेगा क्योंकि संवृति निराधार नहीं हो सकती। एतदर्थ यह दोनों प्रकार का एकान्तवाद युक्तिरहित होने के कारण त्याज्य है, यह आचार्य-वचन है।

इस प्रकार सभी विज्ञेय पदार्थ कल्पित स्वभाव वाले होने के कारण वास्तविक नहीं हैं, किन्तु विज्ञान प्रतीत्यसमुत्पन्न होने के कारण वस्तुतः है, यह अभ्युपेय है। (विज्ञान की) प्रतीत्यसमुत्पन्नता परिणाम शब्द से ज्ञापित है।

कथमेतद् गम्यते विना बाह्येनार्थेन विज्ञानमेवार्थाकारमुत्पद्यत इति? बाह्योह्यर्थः स्वाभासविज्ञानजनकत्वेन विज्ञानस्यालम्बनप्रत्यय इष्यते, न तु कारणत्वमात्रेण समनन्तरादिप्रत्ययविशेषाप्रसङ्गात्। संचितालम्बनाश्च पञ्चविज्ञानकायास्तदाकारत्वात्। न च संचितमवयवसंहतिमात्राद् अन्यद् विद्यते। तदवयवान् अपोह्य संचिताकारविज्ञानाभावात्। तस्माद् विनैव बाह्येनार्थेन विज्ञानं संचिताकारमुत्पद्यते।

न च परमाणव एव संचितास्तस्यालम्बनं परमाणूनाम् अतदाकारत्वात्। न ह्यसंचितावस्थातः संचितावस्थायां परमाणूनां कश्चिदात्मातिशयः। तस्माद् असंचितवत् संचिता अपि परमाणवो नैवालम्बनम्।

---

१. A. ऽस्त्युपगन्तव्यो।

यह कैसे जाना जाता है कि बाह्य पदार्थ के विना विज्ञान ही अर्थाकार उत्पन्न हो जाता है? बाह्यपदार्थ अपने समान विज्ञान का उत्पादक होने से विज्ञान का आलम्बन प्रत्यय माना जाता है, कारण होने से नहीं अन्यथा समनन्तरादि प्रत्ययों से कोई विशेषता नहीं रहेगी। पांच प्रकार के विज्ञानों का आलम्बन संचित पदार्थ हैं, क्योंकि उनका वैसा ही आकार देखने में आता है। संचित पदार्थ अवयव समुदाय से भिन्न कुछ नहीं है। (क्योंकि) उनके अवयवों को पृथक्-पृथक् करने से संचिताकार विज्ञान का अभाव हो जाता है। अतः संचिताकार विज्ञान बाह्य विषय के विना ही उत्पन्न होता है।

परमाणु संचिताकार विज्ञान का आलम्बन नहीं हो सकते हैं, क्योंकि परमाणुओं का वह आकार नहीं है। क्योंकि असंचित अवस्था से संचित अवस्था में परमाणुओं में कोई विशेषता नहीं आती। अतः असंचित के समान संचित परमाणु भी विज्ञान के आलम्बन नहीं हो सकते।

अन्यस्तु मन्यते। एकैकपरमाणुर् अन्यनिरपेक्षोऽतीन्द्रियो, बहवस्तु परस्परापेक्षा इन्द्रियग्राह्याः। तेषामपि सापेक्षनिरपेक्षावस्थयोर् आत्मातिशयाभावाद् एकान्तेनेन्द्रियग्राह्यत्वम् अतीन्द्रियत्वं वा। यदि च परमाणव एव परस्परापेक्षा विज्ञानस्य विषयी भवन्ति, एवं सति योऽयं घटकुड्याद्याकारभेदो विज्ञाने स न स्यात् परमाणूनाम् अतदाकारत्वात्। न चान्यनिर्भासस्य विज्ञानस्यान्याकारो विषयो युज्यतेऽतिप्रसङ्गात्।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं। एक-एक परमाणु स्वतन्त्ररूप में अतीन्द्रिय हैं, पर बहुत से परमाणु जब एक दूसरे की अपेक्षा करते हुए स्थित होते हैं, तो इन्द्रिय ग्राह्य हो जाते हैं। उनके (परमाणुओं के) सापेक्ष-निरपेक्ष अवस्थाओं में कोई विशेषता न आने के कारण या तो वे सर्वथा इन्द्रियग्राह्य होंगे या अतीन्द्रिय होंगे। यदि परस्पर की अपेक्षा से युक्त परमाणु ही विज्ञान के विषय हैं, तो विज्ञान में घट, प्राचीर आदि के आकार का भेद होता है, वह नहीं हो क्योंकि परमाणुओं का तो वह आकार नहीं है। और अन्य प्रकार की प्रतीति वाले विज्ञान का अन्य आकृतिवाला विषय नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा मानने पर अतिव्याप्ति का दोष आ जायगा।

न च परमाणवः स्तम्भादिवत् परमार्थतः सन्ति, अर्वाङ्मध्यपरभागसद्भावात्। तदनभ्युपगमे वा पूर्वदक्षिणापरोत्तरादिदिग्भेदो यः स परमाणोर्न स्यात्। ततश्च विज्ञानवत् परमाणोरप्यमूर्तत्वमदेशस्थत्वं च प्रसज्यते। एवं बाह्यार्थाभावाद् विज्ञानमेवार्थाकारमुत्पद्यते, स्वप्नविज्ञानवद् इत्यभ्युपेयम्।

स्तंभादि के समान परमाणु परमार्थतः सत् नहीं हो सकते हैं क्योंकि उन्हें आगे पीछे एवं मध्य के भाग होते हैं। यदि ऐसा न माना जाय तो परमाणु का जो पूर्व, दक्षिण पश्चिम एवं उत्तर आदि दिशाभेद है, वह नहीं होगा। ऐसी दशा में विज्ञान के समान परमाणु को भी अमूर्त्तत्व तथा आदेशस्थत्व की प्राप्ति होगी। इस प्रकार बाह्य पदार्थ के अभाव में विज्ञान ही विषय के आकार में स्वप्न विज्ञान के समान, उत्पन्न होता है, ऐसा जानना चाहिए।

वेदनादयोऽपि नातीतानागतास्तदाकारविज्ञानजनका निरुद्धाजातत्वात्। न च वर्तमाना वर्तमानजनका उत्पद्यमानावस्थायाम् असत्त्वाद् उत्पन्नावस्थायां विज्ञानस्यापि तदाकारेणोत्पन्नत्वान् न किंचित् कर्तव्यमस्तीति। मनोविज्ञानमप्यनालम्बनमेवोत्पद्यते।

भूत और भविष्यत्कालिक वेदना आदि भी उस आकार के विज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकती हैं, क्योंकि वे या तो नष्ट हैं या उत्पन्न नहीं हैं। जो वर्तमान कालिक वेदनादि हैं, वे वर्तमान कालिक (विज्ञान) को नहीं उत्पन्न कर सकती हैं क्योंकि जब वे उत्पन्न हो रही हैं, उस समय तो वे हैं ही नहीं, और जब वे (उत्पन्न) हो चुकीं तब विज्ञान भी उस आकार वाला उत्पन्न हो चुका (अतः) अब कुछ करने की आवश्यकता नहीं रही। इसलिए मनोविज्ञान भी बिना आलम्बन का ही उत्पन्न होता है।

अन्यस्त्वाह। असत्यात्मनि मुख्ये धर्मेषु चोपचारो न युज्यते। उपचारो हि त्रिषु भवति, नान्यतमाभावे। मुख्यपदार्थे तत्सदृशेऽन्यस्मिन् विषये तयोश्चसादृश्ये। तद् यथा मुख्येऽग्नौ तत्सदृशे च माणवके तयोश्च साधारणे धर्मे कपिलत्वे तीक्ष्णत्वे वा सत्यग्निर्माणवक इत्युपचारः क्रियते। अत्र ह्यग्निर्माणवक इति जातिर्द्रव्यं वोपचार्यते। उभयथाप्युपचाराभावः। तत्र तावन्न जातेः साधारणं कपिलत्वं तीक्ष्णत्वं वा। न च साधारणधर्माभावे माणवके जातेरुपचारो युज्यतेऽतिप्रसङ्गात्।

दूसरे ऐसा कहते हैं। मुख्य आत्मा एवं धर्मों के न होने पर उनका उपचार अर्थात् गौण व्यवहार भी नहीं हो सकता है। उपचार तीन अवस्थाओं में हो सकता है। किसी भी एक के अभाव में नहीं हो सकता है। (वे हैं) मुख्य पदार्थ, उसके समान दूसरा विषय और उन दोनों का सादृश्य। यथा मुख्य अग्नि, उसके समान (कान्तिवाला) बालक तथा उन दोनों का समान धर्म कपिलत्व या तीक्ष्णत्व के होने पर ही 'यह लड़का अग्नि है' ऐसा उपचार किया जाता है। 'यह माणवक अग्नि है' इसमें जाति या द्रव्य का आरोप किया जाता है। दोनों प्रकार से उपचार का अभाव है।

कपिलत्व या तीक्ष्णत्व जाति का साधारण धर्म (गुण) नहीं है। साधारण धर्म नहीं होने पर माणवक में जाति का उपचार करना युक्त नहीं क्योंकि ऐसा करने से अतिव्याप्ति हो जायगी।

अथ अतद्धर्मत्वेऽपि जातेः तीक्ष्णत्वकपिलत्वयोर् जात्यविनाभावित्वान् माणवके जात्युपचारो भविष्यति, जात्यभावेऽपि तीक्ष्णत्वकपिलत्वयोर् माणवके दर्शनाद् अविनाभावित्वमयुक्तम्। अविनाभावित्वे चोपचाराभावोऽग्नाविव माणवकेऽपि जातिसद्भावात्। तस्मान्न माणवके जात्युपचारः संभवति।

(यदि यह कहा जाय कि) यद्यपि वह जाति का धर्म नहीं है तौ भी तीक्ष्णत्व और कपिलत्व जाति के विना नहीं रह सकते, अतः माणवक में अग्नि का उपचार होगा। (क्योंकि) जाति के न होने पर तीक्ष्णता एवं कपिलत्व माणवक में नहीं देखे जाते हैं। अतः जाति के विना तीक्ष्णता एवं कपिलत्व नहीं हो सकते, ऐसा मानना युक्त नहीं है। (यदि ऐसा मान भी लें तो उपचार की सिद्धि नहीं होगी) क्योंकि अग्नि के समान माणवक में भी जाति का अस्तित्व सिद्ध हो जायगा। अतः माणवक में जाति का आरोप नहीं हो सकता।

नापि द्रव्योपचारः सामान्यधर्माभावात्। न हि योऽग्नेस्तीक्ष्णो गुणः कपिलो वा स एव माणवके। किं तर्हि? ततोऽन्यः। विशेषस्य स्वाश्रयप्रतिबद्धत्वान्, न विनाग्निगुणेनाग्नेर् माणवके उपचारो युक्तः।

द्रव्य का भी आरोप नहीं हो सकता क्योंकि उसमें सामान्य धर्म का अभाव है। जो अग्नि का तीक्ष्णत्व या कपिलत्व गुण है, वही माणवक में नहीं है। तव क्या है? उससे भिन्न। प्रत्येक की विशेषता अपने अपने आश्रय में सीमित रहने के कारण अग्नि के गुण के विना माणवक में अग्नि का उपचार युक्त नहीं।

अग्निगुणसादृश्याद् युक्त इति चेत्, एवमप्यग्निगुणस्यैव तीक्ष्णस्य कपिलस्य वा माणवकगुणे तीक्ष्णे कपिले वा सादृश्याद् उपचारो युक्तो न तु माणवकेऽग्नेर्, गुणसादृश्येनासंबन्धात्। तस्माद् द्रव्योपचारोऽपि नैव युज्यते।

(यहां यदि यह कहा जाय कि) अग्नि के गुण के सादृश्य से ही माणवक मे अग्नि शब्द का उपचार युक्त है, तौ भी अग्नि के गुण तीक्ष्णता या कपिलत्व का माणवक के गुण तीक्ष्णता या कपिलत्व में सादृश्य के कारण उपचार का होना संभव है, न कि माणवक में अग्नि का, क्योंकि अग्नि के गुण के सादृश्य के

साथ उसका (माणवक का) सम्बन्ध नहीं है । एतदर्थ द्रव्योपचार भी युक्तिसंगत नहीं है ।

मुख्योऽपि पदार्थो नास्ति, तत्स्वरूपस्य सर्वज्ञानाभिधानविषयातिक्रान्तत्वात् । प्रधाने हि गुणरूपेणैव ज्ञानाभिधाने प्रवर्तते तत्स्वरूपासंस्पर्शात्, अन्यथा च गुणवैयर्थ्यप्रसङ्गः । न हि ज्ञानाभिधानव्यतिरिक्तोऽन्यः पदार्थस्वरूपपरिच्छित्त्युपायोऽस्तीत्यतः प्रधानस्वरूपविषयज्ञानाभिधानाभावान् नैव मुख्यः पदार्थोऽस्तीत्यवगन्तव्यम् । एवं यावच्छब्दे संबन्धाभात्राज् ज्ञानाभिधानाभाव एवं चाभिधानाभिधेयाभावान् नैव मुख्यः पदार्थोऽस्ति । अपि च सर्व एवायं गौण एव न मुख्योऽस्ति । गौणो हि नाम यो यत्राविद्यमानेन रूपेण प्रवर्तते । सर्वश्च शब्दः प्रधानेऽविद्यमानेनैव गुणरूपेण प्रवर्तते, अतो मुख्यो नास्त्येव । तत्र यदुक्तं असत्यात्मनि मुख्ये धर्मेषु चोपचारो न युक्त इति तदयुक्तम् ।

मुख्य पदार्थ भी नहीं है, क्योंकि उसका स्वरूप सभी प्रकार के ज्ञानों तथा शब्दों के विषय से परे है । मुख्यपदार्थ में गुण रूप से ही ज्ञान तथा शब्द की प्रवृत्ति होती है, क्योंकि उसके स्वरूप की प्रतीति (ज्ञान तथा शब्द द्वारा) नहीं होती है, अन्यथा गुण की व्यर्थता की प्राप्ति हो जायगी । ज्ञान और शब्द के अतिरिक्त पदार्थ के स्वरूप के ज्ञान का कोई अन्य साधन नहीं है, अतः प्रधान के स्वरूप के विषय में ज्ञान और शब्द के न होने से मुख्यपदार्थ नहीं है, ऐसा जानना चाहिए । इस प्रकार शब्द में सम्बन्ध न होने से ज्ञान और शब्द का अभाव है और शब्द एवं अर्थ के न होने से मुख्य पदार्थ नहीं है । पुनः सभी (शब्द व्यवहार) गौण हैं, मुख्य नहीं हैं । गौण उसे कहते हैं, जो अविद्यमान रूप से प्रवृत्त होता है । सभी शब्द प्रधान में (मुख्य पदार्थ में) अविद्यमान गुण रूप से प्रवृत्त होते हैं, अतः मुख्य पदार्थ नहीं है । एतदर्थ जो यह कहा गया है कि आत्मा तथा मुख्य धर्मों के न रहने पर उपचार भी नहीं हो सकता, यह युक्त नहीं है ।

विज्ञानपरिणामः कतिभेद इति न ज्ञायते । अतस्तत्प्रभेदोपदर्शनार्थमाह—

—परिणामः स च त्रिधा ॥ १ ॥

विज्ञान के परिणाम के कितने भेद हैं, यह नहीं ज्ञात है । अतः उसके प्रभेद को दर्शाने के लिए कहा गया है—

'वह परिणाम तीन प्रकार का है' ॥ १ ॥

(२)

यत्रात्माद्युपचारो धर्मोपचारश्च, स पुनर्हेतुभावेन फलभावेन च विद्यते[1]। तत्र हेतुपरिणामो याऽलयविज्ञाने विपाकनिःष्यन्दवासनापरिपुष्टिः। फलपरिणामः पुनर्विपाकवासनावृत्तिलाभाद् आलयविज्ञानस्य पूर्वकर्माक्षेपपरिसमाप्तौ या निकायसभागान्तरेष्वभिनिर्वृत्तिः, निःष्यन्दवासनावृत्तिलाभाच्च या प्रवृत्तिविज्ञानानां क्लिष्टस्य च मनस आलयविज्ञानाद् अभिनिर्वृत्तिः। तत्र प्रवृत्तिविज्ञानं कुशलाकुशलम् आलयविज्ञाने विपाकवासनां निःष्यन्दवासनां चाधत्ते। अव्याकृतं क्लिष्टं च मनो निःष्यन्दवासनामेव।

(२)

जो आत्म उपचार और धर्म-उपचार है, वह हेतु और फल रूप से विद्यमान है। हेतु परिणाम आलयविज्ञान में विपाकवासना तथा निष्यन्दवासना की परिपुष्टि है। फलपरिणाम विपाकवासना के वृत्ति लाभ से आलयविज्ञान के पूर्व कर्माक्षेप की समाप्ति हो जाने पर अन्य शरीर के लिए प्रवृत्ति तथा निष्यन्दवासना के वृत्तिलाभ से प्रवृत्तिविज्ञान और क्लिष्ट मन की आलयविज्ञान से निर्वृत्ति है। कुशल तथा अकुशल प्रवृत्तिविज्ञान आलयविज्ञान में विपाकवासना एवं निष्यन्दवासना को उत्पन्न करता है। अव्याकृत क्लिष्ट मन निष्यन्दवासना को ही उत्पन्न करता है।

योऽसौ त्रिविधः परिणाम उक्तोऽसावपि न ज्ञायते। अतस्तद्भेदप्रदर्शनार्थमाह—

विपाको मननाख्यश्च विज्ञप्तिर्विषयस्य च।

तीन प्रकार का जो परिणाम कहा गया, वह भी (सम्यक् रूप से) ज्ञात नहीं है। अतः उसके भेद को दर्शाने के लिए कहते हैं—

'विपाक मनन और विषयविज्ञप्ति'—

इति। स एष त्रिविधः परिणामो विपाकाख्यो मननाख्यो विषयविज्ञप्त्याख्यश्च। तत्र कुशलाकुशलकर्मवासनापरिपाकवशाद् यथाक्षेपं फलाभिनिर्वृत्तिर्विपाकः।

यही तीन परिणाम हैं, जिन्हें विपाक, मनन और विषयविज्ञप्ति कहते हैं। उनमें कुशल एवं अकुशल कर्मवासना के परिपाक होने से आक्षेप के अनुसार जो फल की सिद्धि है, वही विपाक है।

---

१. C. भिद्यते।

क्लिष्टं मनो नित्यं मननात्मकत्वात् मननाख्यम् ।

रूपादिविषयप्रत्यवभासत्वात् चक्षुरादिविज्ञानं षट्प्रकारमपि विषयविज्ञप्तिः ।

क्लिष्ट मन सदा मननात्मक होने से मनन कहलाता है ।

रूपादि विषयों के प्रकाशक होने के कारण चक्षुविज्ञान आदि छः प्रकार के विज्ञान विषय विज्ञप्ति कहलाते हैं ।

तत्स्वरूपनिर्देशमन्तरेण न तत् प्रतीयते, इत्यतो यस्य यत्स्वरूपं तद् यथाक्रमं प्रदर्शयन्नाह—

तत्रालयाख्यं विज्ञानं विपाकः सर्वबीजकम् ॥ २ ॥

जिसका जो स्वरूप है, उसके निर्देश विना (स्वरूप की) प्रतीति नहीं होती है, एतदर्थ जिसका जो स्वरूप है, उसको यथाक्रम दर्शाते हुए कहा गया है :—

उनमें आलयविज्ञान जो सबका बीज है, उसे विपाक कहते हैं ॥ २ ॥

इति । तत्रेति योऽयमनन्तरोक्तः त्रिविधः परिणामः । आलयाख्यमित्यालयविज्ञानसंज्ञकं यद्विज्ञानं स विपाकपरिणामः । तच्च[1] सर्वसांक्लेशिकधर्मबीजस्थानत्वाद् आलयः । आलयः स्थानमिति पर्यायौ । अथ वालीयन्ते उपनिबध्यन्तेऽस्मिन् सर्वधर्माः कार्यभावेन । यद्वालीयते उपनिबध्यते कारणभावेन सर्वधर्मेष्वित्यालयः । विजानातीति विज्ञानम् । सर्वधातुगतियोनिजातिषु कुशलाकुशलकर्मविपाकत्वाद् विपाकः । सर्वधर्मबीजाश्रयत्वात् सर्वबीजकम् ।

उनमें अर्थात् अभी कहे गये तीन प्रकार के परिणामों में । आलयनामक अर्थात् आलयविज्ञान नामक जो विज्ञान है, वही विपाकपरिणाम है । सभी सांक्लेशिक धर्मों के बीज का स्थान होने के कारण यह आलय कहलाता है । आलय तथा स्थानपर्यायवाची शब्द हैं । अथवा जिसमें सभी धर्म कार्यभाव से उपनिबद्ध होते हैं (इसलिए वह आलय कहलाता है) । या जो सभी धर्मों में कारण भाव से उपनिबद्ध होता है, उसे आलय कहते हैं । जो जानता है, उसे विज्ञान कहते हैं । सभी धातु गति योनि और जातियों में कुशल एवं अकुशल कर्म का विपाक होने के कारण विपाक कहलाता है । सभी धर्मों के बीज का आश्रय होने से सब का बीज (सर्वबीजक) कहलाता है ।

---

१. A. तत्र ।

(३)

यदि प्रवृत्तिविज्ञानव्यतिरिक्तम् आलयविज्ञानमस्ति ततोऽस्यालम्बनम् आकारो च[1] वक्तव्यः। न हि निरालम्बनं निराकारं वा विज्ञानं युज्यते।

(३)

यदि प्रवृत्ति विज्ञान से भिन्न आलयविज्ञान है, तब इसका आलम्बन (विषय) या आकार का कथन करना चाहिए क्योंकि आलम्बन या आकार रहित विज्ञान नहीं हो सकता है।

नैव तन् निरालम्बनं निराकारं वेष्यते। किं तर्ह्यपरिच्छिन्नालम्बनाकारम्। किं कारणम्? यस्माद् आलयविज्ञानं द्विधा प्रवर्तते। अध्यात्मम् उपादानविज्ञप्तितो, बहिर्धाऽपरिच्छिन्नाकारभाजनविज्ञप्तिश्च। तत्राध्यात्ममुपादानं परिकल्पितस्वभावाभिनिवेशवासना, साधिष्ठानम् इन्द्रियरूपं नाम च। अस्यालम्बनस्यातिसूक्ष्मत्वात्—

'असंविदितकोपादिस्थानविज्ञप्तिकं च तत्'।

(इसका उत्तर है कि) निरालम्बन या निराकार आलयविज्ञान अभीष्ट नहीं है। अपितु अपरिच्छिन्न आलम्बन तथा आकारवाला विज्ञान इष्ट है। इसका क्या कारण है? क्योंकि आलयविज्ञान दो प्रकार से प्रवृत्त होता है। आध्यात्मतः उपादानविज्ञप्ति के रूप में तथा बाह्यतः अपरिच्छिन्न-आकार-भाजनविज्ञप्ति के रूप में। आध्यात्मिक-उपादानविज्ञप्ति परिकल्पित स्वभाव के आग्रह की वासना है, जो अधिष्ठान सहित इन्द्रियरूप कहलाती है। इसका आलम्बन अति सूक्ष्म है। इसलिए यह—

'असंविदित उपादि स्थानविज्ञप्ति कहलाती है'।

असंविदितक उपादिर्यस्मिन् असंविदितकावस्थानविज्ञप्तिर्यस्मिन् तदालयविज्ञानम्, असंविदितकोपादिस्थानविज्ञप्तिकम्। उपादानम् उपादिः। स पुनरात्मादिविकल्पवासना रूपादिधर्मविकल्पवासना च। तत्सद्भावादालयविज्ञानेनात्मादिविकल्पो रूपादिविकल्पश्च कार्यत्वेनोपात्त इति। तद्वासनात्मादिविकल्पानां रूपादिविकल्पानां चोपादिरित्युच्यते। सोऽस्मिन् इदं तदिति प्रतिसंवेदनाकारेणासंविदित इत्यतस्तदसंविदितकोपादीत्युच्यते।

जिसमें उपादि का ज्ञान नहीं होता है, जिसमें स्थानविज्ञप्ति असंविदित है, वह असंविदित उपादि स्थानविज्ञप्ति कहलाता है। उपादान को ही उपादि कहते हैं। वह आत्मादिविकल्पवासना तथा रूपादि धर्मविकल्पवासना है।

---

१. A. वा।

उसके होने से आलयविज्ञान में आत्मादिविकल्प और रूपादिविकल्प कार्यरूप में गृहीत होते हैं। उसकी वासना आत्मादिविकल्पों तथा रूपादिविकल्पों की उपादि है। वह इसमें 'यह है' इस प्रकार प्रतिसंवेदन के रूप में नहीं जाना जाता है, इसलिए उसे असंविदित उपादि कहते हैं।

आश्रयोपादानं चोपादिः। आश्रय आत्मभावः साधिष्ठानम् इन्द्रियरूपं नाम च। तस्य पुनर्यदुपादानम् उपगमनम् एकयोगक्षेमत्वेन तदुपादिः। तत्र कामरूपधात्वोर्द्वयोर्नामरूपयोर् उपादानम्। आरूप्यधातौ तु रूपवीतरागत्वाद्रूपविपाकानभिनिर्वृत्तेर् नामोपादानमेव। किं तु वासनावस्थमेव तत्र रूपं न विपाकावस्थम्। तत्पुनरुपादानम् इदं तया प्रतिसंवेदयितुमशक्यमित्यतोऽसंविदित इत्युच्यते।

आश्रय के उपादान को उपादि कहते हैं। आश्रय आत्मभाव को कहते हैं। वह अधिष्ठान सहित इन्द्रिय रूप तथा नाम है। उसका उपादान एक योगक्षेम वाला होने के कारण उपगमन है, वह उपादि कहलाता है। उनमें कामधातु एवं रूपधातु दोनों में नाम और रूप का उपादान है। आरूप्यधातु में रूप से वीतराग होने के कारण रूपविपाक की अभिनिर्वृत्ति न होने से नाम का ही उपादान है। किन्तु वहां रूपवासना की अवस्था में रहता है, विपाकावस्था में नहीं। वह उपादान 'ऐसा है' इस रूप में बतलाया नहीं जा सकता, इसलिए असंविदित कहलाता है।

स्थानविज्ञप्तिर्भाजनलोकसंनिवेशविज्ञप्तिः। साप्यपरिच्छिन्नालम्बनाकारप्रवृत्तत्वाद् असंविदितेत्युच्यते।

भाजन-लोक-सन्निवेश-विज्ञप्ति को स्थानविज्ञप्ति कहते हैं। वह भी अपरिच्छिन्न आलम्बन और आकार में प्रवृत्त होने से असंविदित कहलाती है।

कथं विज्ञानम् अपरिच्छिन्नालम्बनाकारं भविष्यतीति? अन्यविज्ञानवादिनामपि निरोधसमापत्त्याद्यवस्थासु तुल्यमेतत्। न च निरोधसमापत्त्याद्यवस्थासु विज्ञानं नैवास्तीति शक्यते प्रतिपत्तुम्। युक्तिविरोधात् सूत्रविरोधाच्चेति।

(प्रश्न यह होता है कि) विज्ञान अपरिच्छिन्न आलम्बन और आकार वाला कैसे हो सकता है? (इसका उत्तर यह है कि) अन्य विज्ञानवादी भी निरोधसमापत्ति आदि अवस्थाओं मे ऐसा ही मानते हैं। निरोधसमापत्ति अवस्था में विज्ञान नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते हैं। (ऐसा कहना) युक्ति एवं सूत्र का विरोध करना है।

तत्रालयाख्यं विज्ञानमित्युक्तं विज्ञानं चावश्यं चैत्तैः संप्रयुक्तमित्यतो वक्तव्यं कतमैः कतिभिश्च तच्चैत्तैः[1] संप्रयुज्यते ? तथा किं तैः सर्वदा संप्रयुज्यते, उत नेत्यत आह—

सदा स्पर्शमनस्कारवित् संज्ञा चेतनान्वितम् ॥ ३ ॥

जब आलय को विज्ञान कहा जाता है, तो वह अवश्य चैत्तों से सम्प्रयुक्त होगा, अतः यह कहना चाहिए कि किन और कितने चैत्तों से सम्प्रयुक्त रहता है तथा वह क्या उनसे सर्वदा सम्प्रयुक्त रहता है या नहीं, इसे कहा गया है—

'स्पर्श मनस्कार वेदना संज्ञा और चेतना से सर्वदा युक्त रहता है' ॥ ३ ॥

इति। सदेति यावदालयविज्ञानं तावदेभिः स्पर्शमनस्कारवेदनासंज्ञाचेतनाख्यैः पञ्चभिः सर्वत्रगैर्धर्मैरन्वितम् ।

'सदा' का अर्थ यह है कि जब तक आलयविज्ञान है, तब तक इन स्पर्श मनस्कार वेदना संज्ञा चेतना नामक पाँचों सर्वत्र गामी धर्मों से युक्त रहता है।

वेदना वित् ।

तत्र स्पर्शस्त्रिकसंनिपाते इन्द्रियविकारपरिच्छेदः वेदनासंनिश्रयकर्मकः । इन्द्रियविषयविज्ञानानि त्रीण्येव त्रिकम् । तस्य कार्यकारणभावेन समवस्थानं त्रिकसंनिपातः । तस्मिन् सति तत्समकालमेवेन्द्रियस्य सुखदुःखादिवेदनानुकूलो यो विकारस्तेन सदृशो विषयस्य सुखादिवेदनीयाकारपरिच्छेदो यः स स्पर्शः । इन्द्रियं पुनर्येन विशेषेण सुखदुःखादि वेदनीयाकारपरिच्छेदो यः स स्पर्शः । इन्द्रियं पुनर्येन विशेषेण सुखदुःखादिहेतुत्वं प्रतिपद्यते स तस्य विकारः । स्पर्शः पुनरिन्द्रियविकारसादृश्येनेन्द्रियं स्पृशतीन्द्रियेण वा स्पृश्यत इति स्पर्श उच्यते । अतएव विषयविकारपरिच्छेदात्मकोऽपीन्द्रियविकारपरिच्छेद उक्तः । वेदनासंनिश्रयत्वमस्य कर्म । एवं ह्युक्तं सूत्रे सुखवेदनीयं स्पर्शं प्रतीत्योत्पद्यते सुखं वेदितमिति विस्तरः ।

वेदना को वित कहते हैं ।

त्रिक सन्निपात में जो इन्द्रियों के विकारों का, परिच्छेद है, इसका वेदना सन्निश्रय कार्य है, उसे स्पर्श कहते हैं । इन्द्रिय विषय और विज्ञान, इन तीनों को त्रिक कहते हैं । उनका कार्यकारणभाव से समवस्थान त्रिकसन्निपात है । उसके होने पर उसी समय में जो इन्द्रिय का सुख-दुःखादि वेदनानुकूल विकार है, उसके

---

१. A. सदा ।

समान विषय के सुखादि वेदनाओं को उत्पन्न करने वाले आकार का जो परिच्छेद है, वह स्पर्श कहलाता है, जिस विशेषता से इन्द्रिय सुख-दुःखादि का कारण बनती है, वह उसका विकार है। इन्द्रिय विकार के सादृश्य से इन्द्रिय को स्पर्श करता है या इन्द्रिय के द्वारा उसका स्पर्श होता है, इसलिए वह स्पर्श कहलाता है। इसलिए विषयविकारपरिच्छेदात्मक होते हुए भी उसे इन्द्रियविकारपरिच्छेद कहा गया है। वेदना सन्निश्रयत्व इसका कार्य है। इस प्रकार सूत्र में कहा गया है कि सुखवेदनीय स्पर्श के कारण सुखवेदना उत्पन्न होती है, यह विस्तार है।

मनस्कारश्चेतस आभोगः। आभुजनमाभोगः। आलम्बने येन चित्तमभिमुखीक्रियते। स पुनरालम्बने चित्तधारणकर्मा। चित्तधारणं पुनस्तत्रैवालम्बने पुनः पुनश्चित्तस्यावर्जनम्। एतच्च कर्म चित्तसंततेरालम्बननियमेन विशिष्टं मनस्कारमधिकृत्योक्तं, न तु यः प्रतिचित्तक्षणं, तस्य हि प्रतिक्षणमेव व्यापारो न क्षणान्तरे।

मनस्कार चित्त के आभोग को कहते हैं, आभोग का अर्थ आभुजन या उस दिशा में प्रवृत्त होना है। इसके द्वारा चित्त आलम्बन की ओर अभिमुख किया जाता है। आलम्बन में चित्त को धारण करना इसका काम है। चित्त धारण का अर्थ है उसी आलम्बन में पुनः पुनः चित्त को आकृष्ट करना। यह कर्म चित्तसन्तति के आलम्बननियम के प्रसंग में विशिष्ट मनस्कार के विषय में कहा गया है, उस मनस्कार के विषय में नहीं जो एक एक चित्तक्षण में होता है क्योंकि उसका कार्य तो एक क्षण भर ही रहता है, दूसरे क्षण नहीं।

वेदना अनुभवस्वभावा। सा पुनर्विषयस्याह्लादकपरितापकतदुभयाकारविविक्तस्वरूपसाक्षात्करणभेदात् त्रिधा भवति, सुखा, दुःखा, अदुःखासुखा च।

वेदना अनुभव स्वभाव वाली होती है। वह विषय के आह्लादक परितापक तथा उन दोनों से भिन्न स्वरूप के साक्षात्कार के भेद से तीन प्रकार की होती हैं—सुखा वेदना, दुःखा वेदना तथा अदुःखा असुखा वेदना।

एवं त्वन्ये मन्यन्ते। शुभाशुभानां कर्मणां फलविपाकं प्रत्यनुभवन्त्यनेनेत्यनुभवः। तत्र शुभानां कर्मणां सुखोऽनुभवः फलविपाकः। अशुभानां दुःखः। उभयेषामदुःखासुखः। अत्र चालयविज्ञानमेव शुभाशुभकर्मविपाकः। तत्संप्रयुक्तैवोपेक्षा परमार्थतः शुभाशुभानां कर्मणां फलविपाकः। सुखदुःखयोस्तु कुशलाकुशलकर्मविपाकजत्वाद् विपाकोपचारः। तत्र सुखोऽनुभवः यस्मिन्नुत्पन्नेऽवियोगेच्छानिरुद्धे च पुनः संयोगेच्छा

जायते । दुःखोऽनुभवः यस्मिन्नुत्पन्ने वियोगेच्छानिरुद्धे च पुनर्संयोगेच्छा । अदुःखासुखो यस्मिन्नुत्पन्ने निरुद्धे चोभयं न जायते ।

ऐसा दूसरे मानते हैं । जिनके द्वारा शुभ और अशुभ कर्मों के फल का अनुभव किया जाता हैं, वह अनुभव है । उनमें शुभ कर्मों का फल सुख अनुभव है । अशुभ कर्मों का फल दुःख अनुभव है । शुभ एवं अशुभ कर्मों के फल से अदुःख असुख अनुभव होता है । आलयविज्ञान ही शुभ एवं अशुभ कर्मों का विपाक है । उससे सम्प्रयुक्त उपेक्षा ही वस्तुतः शुभाशुभ कर्मों का फल है । सुख दुःख कुशल एवं अकुशल कर्म के विपाक से उत्पन्न होते हैं, इसलिए उनमें विपाक शब्द का व्यवहार होता है । सुख अनुभव वह है, जिसके उत्पन्न होने से उससे वियोग की इच्छा न हो तथा जिसके नष्ट होने से संयोग की इच्छा हो । दुःख अनुभव वह है, जिसके उत्पन्न होने पर उससे वियोग की इच्छा हो तथा जिसके नष्ट होने पर उससे संयोग की इच्छा न हो । अदुःख असुख अनुभव वह है. जिसके उत्पन्न होने तथा निरुद्ध होने पर अवियोग तथा संयोग दोनों की इच्छा नहीं होती है ।

संज्ञा विषयनिमित्तोद्ग्रहणम् । विषय आलम्बनम् । निमित्तं तद्विशेषो नीलपीताद्यालम्बनव्यवस्थाकारणम् । तस्योद्ग्रहणं निरूपणं नीलमेतन् न पीतमिति ।

विषय के निमित्त को ग्रहण करना संज्ञा है । विषय को आलम्बन कहते हैं । उसकी विशेषता अर्थात् नील-पीतादि जो आलम्बन की व्यवस्था के कारण हैं, वे ही निमित्त हैं । उसका उद्ग्रहण अर्थात् निरूपण कि यह नील है, पीत नहीं है—(संज्ञा कहलाती है) ।

चेतना चित्ताभिसंस्कारो मनसश्चेष्टा । यस्यां सत्यामालम्बनं प्रति चेतसः प्रस्पन्द इव भवति अयस्कान्तवशादयःप्रस्पन्दवत् ।

चेतना चित्त के अभिसंस्कार अर्थात् मन की चेष्टा को कहते हैं । जिसके होने पर आलम्बन के प्रति चित्त का झुकाव हो जाता है यथा अयस्कान्त के प्रति लोहे का ।

वेदना त्रिविधा सुखा दुःखा अदुःखासुखा च । धर्माश्चतुः प्रकाराः—कुशला अकुशला अनिवृताव्याकृता निवृताव्याकृताश्च ।

वेदना तीन प्रकार की होती है—सुखात्मक दुःखात्मक तथा अदुःखासुखात्मक । धर्म चार प्रकार के होते हैं—कुशल, अकुशल, अनिवृताव्याकृत तथा निवृताव्याकृत ।

(४)

तत्रालयविज्ञाने विदित सामान्योपदेशेन न विज्ञायते, तिसृणां वेदनानां कतमा वेदना। तथा तदपि किं कुशलमकुशलमनिवृताऽव्याकृतं निवृताऽव्याकृतमिति न विज्ञायत इत्यत आह—

उपेक्षा वेदना तत्रानिवृताऽव्याकृतं च तत्।

(४)

आलय विज्ञान में सामान्यतया वेदना का कथन होने से यह नहीं ज्ञात होता है कि (उक्त) तीन वेदनाओं में वहां कौन सी वेदना रहती है। वह आलयविज्ञान भी कुशल अकुशल अनिवृताव्याकृत या निवृताव्याकृत है—यह भी नहीं ज्ञात है, अतः कहा गया है—

वहां उपेक्षा वेदना रहती है, और वह अनिवृताव्याकृत है।

तत्रेत्यालयविज्ञानमेव प्रकृतत्वात्संबध्यते। उपेक्षैवालयविज्ञाने वेदना न सुखा न दुःखा, तयोः परिच्छिन्नालम्बनाकारत्वात्। रागद्वेषानुशयित्वाच्च, अनिवृताऽव्याकृतं च तत्। आलयविज्ञानमिति प्रकृतम्। तत्रानिवृतग्रहणं निवृतव्यवच्छेदार्थम्। अव्याकृतग्रहणं कुशलाकुशलव्यवच्छेदार्थम्। मनोभूमिकैरागन्तुकैरुपक्लेशैरनावृतत्वादनिवृतम्। विपाकत्वाद्विपाकं प्रतिकुशलाकुशलत्वेनाव्याकरणादव्याकृतम्।

तथा स्पर्शादयः—.........।

वहां 'यह' सर्वनाम प्रसंगवश आलयविज्ञान का ही परामर्शक है। उपेक्षा वेदना ही आलयविज्ञान में रहती है, सुख या दुःख वेदना नहीं क्योंकि वे दोनों परिच्छिन्न आलम्बन और आकारवाली हैं। राग-द्वेष से युक्त होने के कारण वह अनिवृताव्याकृत है। 'वह'–इस शब्द से आलयविज्ञान का ग्रहण प्रकरणवश है। वहां अनिवृत का ग्रहण निवृत के व्यवच्छेद के लिए है। अव्याकृत का ग्रहण कुशल एवं अकुशल के निराकरण के लिए है। मन में होने वाले आगन्तुक उपक्लेशों से आवृत न होने के कारण वह अनिवृत है। विपाक होने के कारण विपाक है। कुशल या अकुशल के रूप में नहीं कहे जाने के कारण अव्याकृत है।

'तथा स्पर्शादि'...............।

यथा आलयविज्ञानमेकान्तेन विपाकोऽपरिच्छिन्नालम्बनाकारं सदा स्पर्शादिभिरन्वितं, तत्र चोपेक्षैव वेदनाऽनिवृताऽव्याकृतं च; तथा स्पर्शादयोऽप्येकान्तेन विपाका एवापरिच्छिन्नालम्बनाकाराश्च। आत्मानं हित्वा इतरैश्चतुर्भिरालयविज्ञानेन च नित्यमनुगतास्तेषु चोपेक्षैव वेदना

अनिवृताव्याकृताश्चालयविज्ञानवत्। न हि विपाकेन संप्रयुक्तानामविपाकत्वमपरिच्छिन्नालम्बनाकारेण च परिच्छिन्नालम्बनाकारत्वं संभवति। एवमन्यत्रापि वाच्यम्।

यथा आलयविज्ञान अपरिच्छिन्न आलम्बन और आकार वाला एकान्ततः विपाक है तथा सर्वदा स्पर्शादि से युक्त रहता है, वहां उपेक्षा वेदना ही रहती है तथा वह अनिवृताव्याकृत है, वैसे ही स्पर्शादि भी एकान्ततः विपाक हैं और अपरिच्छिन्न आलम्बन और आकार वाले हैं। अपने-अपने को छोड़कर, अन्य चारों से तथा आलयविज्ञान से वे नित्य अनुगत हैं और उनमें उपेक्षा वेदना ही रहती है और वे (स्पर्शादि) आलयविज्ञान के समान अनिवृताव्याकृत हैं। विपाक से सम्प्रयुक्त वस्तु अविपाक नहीं हो सकते तथा अपरिच्छिन्न आलम्बन और आकार से युक्त विज्ञानों का परिच्छिन्न आलम्बन और आकार-वाला होना संभव नहीं है। ऐसा ही अन्यत्र भी समझना चाहिए।

किं पुनस्तदालयविज्ञानमेकमभिन्नमासंसारमनुवर्तते उत संतानेन? न हि तदेकमभिन्नमनुवर्तते क्षणिकत्वात्। किं तर्हि?

—तच्च वर्तते स्रोतसौघवत् ॥ ४ ॥

(अब यहां प्रश्न उत्पन्न होता है) क्या एक ही आलयविज्ञान अभिन्न रूप से जब तक संसार है तब तक चलता रहता है या प्रवाह के रूप में। वह एक ही अभिन्न रूप से नहीं चलता है, क्षणिक होने के कारण। तब क्या?

'वह प्रवाह के रूप में प्रवृत्त होता रहता है' ॥ ४ ॥

तच्चेत्यालयविज्ञानमेव संबध्यते। तत्र स्रोतो हेतुफलयोर्नैरन्तर्येण प्रवृत्तिः। उदकसमूहस्य पूर्वापरभागाविच्छेदेन प्रवाह ओघ इत्युच्यते। यथा ह्योघस्तृणकाष्ठगोमयादीनाकर्षयन्गच्छति, एवमालयविज्ञानमपि पुण्यापुण्यानेञ्ज्यकर्मवासनानुगतं स्पर्शमनस्कारादीनाकर्षयत्स्रोतसासंसारमव्युपरतं प्रवर्तत इति।

इस 'तत्' शब्द से आलयविज्ञान का सम्बन्ध है। कारण और कार्य की निरन्तर प्रवृत्ति हो प्रवाह है। जलराशि के पूर्व और अपरभाग के अव्यवच्छिन्न प्रवाह को ओघ कहते हैं। जिस प्रकार ओघ तृण काष्ठगोमयादि को लेते हुए चलता है, उसी प्रकार आलयविज्ञान कुशल, अकुशल तथा आनेञ्ज कर्मवासना से अनुगत हो स्पर्श मनस्कारादि को लेते हुए स्रोत के समान संसार की स्थिति पर्यन्त प्रवृत्त होता रहता है।

(५)

तस्यैवं स्रोतसा प्रवृत्तस्य कस्यामवस्थायां व्यावृत्तिरित्याह—

तस्य व्यावृत्तिरर्हत्वे............ ।

(५)

उस स्रोत के समान प्रवृत्त आलयविज्ञान की व्यावृत्ति किस अवस्था में होती है, (इसको प्रकाशित करते हुए) कहा गया है—

'उसकी व्यावृत्ति अर्हत्व की अवस्था में होती है'।

किं पुनरर्हत्वं यद्योगादर्हन्नित्युच्यते ? कस्य पुनर्योगादर्हन्नित्युच्यते ? क्षयज्ञानानुत्पादज्ञानलाभात् । तस्यां ह्यवस्थायामालयविज्ञानाश्रितदौष्ठुल्यनिरवशेषप्रहाणादालयविज्ञानं व्यावृत्तं भवति । सैव चार्हदवस्था ।

पुनः वह अर्हत्व क्या है, जिसके योग से कोई अर्हत् कहलाता है ? किस गुण के योग से वह अर्हत् कहलाता है ? क्षय ज्ञान से तथा अनुत्पत्ति ज्ञान के लाभ से (वह अर्हत् कहलाता है)। उस अवस्था में आलय विज्ञान में स्थित सभी दौष्ठुल्यों का (कर्मबीजों का) निरवशेष प्रहाण हो जाने से आलयविज्ञान की व्यावृत्ति हो जाती है । वही अर्हत् की अवस्था है ।

उक्त सविभागो[1] विपाकपरिणामः । इदानीं मननाख्यं द्वितीयं परिणाममाह-'तदाश्रित्य प्रवर्तत' इति विस्तरः । तत्र यथा चक्षुरादिविज्ञानानां चक्षुरादय आश्रयत्वेन रूपादयश्चालम्बनत्वेन प्रसिद्धाः, नैवं क्लिष्टस्य मनस आश्रय आलम्बनं वा प्रसिद्धम् । न च विज्ञानमाश्रयालम्बननिरपेक्षं युज्यत इत्यतः क्लिष्टस्य मनस आश्रयालम्बनप्रतिपादनार्थं निरुक्तिप्रतिपादनार्थं चाह—

विस्तारपूर्वक विपाकपरिणाम के सम्बन्ध में कह दिया गया । अब मनन नामक द्वितीय परिणाम के सम्बन्ध में कहा जाता है—'उसके आश्रय से प्रवृत्त होता है', यह विस्तार है । उनमें जैसे चक्षुविज्ञान आदि का चक्षु आदि आश्रय तथा रूपादि आलम्बन के रूप में प्रसिद्ध हैं, उस प्रकार क्लिष्ट मन का आश्रय एवं आलम्बन प्रसिद्ध नहीं है । विज्ञान आश्रय एवं आलम्बन से निरपेक्ष होकर नहीं रह सकता है, एतदर्थ क्लिष्ट मन के आश्रय एवं आलम्बन के प्रतिपादन के लिए तथा उसके निर्वचन के लिए कहते हैं :—

—तदाश्रित्य प्रवर्तते ।

तदालम्बं मनोनाम विज्ञानं मननात्मकम् ॥ ५ ॥

१. सविभङ्गः ।

उसी के आश्रय से यह प्रवृत्त होता है। उस पर आलम्बित होकर मननात्मक मनोविज्ञान उत्पन्न होता है ॥ ५ ॥

तदाश्रित्य प्रवर्तत इति तच्छब्देनालयविज्ञानमभिसंबध्यते। तद्वासनाश्रयो ह्यालयविज्ञानमतस्तदाश्रित्य प्रवर्तते संतानेनोत्पद्यत इत्यर्थः। अथ वा यस्मिन्धातौ भूमौ वालयविज्ञानं विपाकस्तदपि क्लिष्टं मनस्तद्धातुकं तद्भूमिकं चेति तत्प्रतिबद्धवृत्तित्वात्तदाश्रित्य प्रवर्तते। तदालम्बमिति, आलयविज्ञानालम्बनमेव; सत्कायदृष्ट्यादिभिः संप्रयोगादहं ममेत्यालय-विज्ञानालम्बनत्वात्।

उसके आश्रय से प्रवृत्त होता है, इस वाक्य में 'तत्' शब्द से आलय विज्ञान का सम्बन्ध है। उस मन की वासना का आश्रय आलय विज्ञान है, अतः उसके आश्रय एवं प्रवाह से मननात्मक मनोविज्ञान प्रवृत्त होता है। अथवा जिस धातु या भूमि में आलयविज्ञान विपाक है, वह क्लिष्ट मन भी उस धातु एवं भूमि वाला है, अतः उससे प्रतिबद्धवृत्ति वाला होने के कारण उसके आश्रय से प्रवृत्त होता है। 'उसका आश्रय लेकर' का अर्थ है—आलयविज्ञान का आश्रय लेकर। क्योंकि सत्कायदृष्टि आदि के सम्प्रयोग से 'अहं', 'मम' इस रूप में आलयविज्ञान का आलम्बन लेकर मन (प्रवृत्त होता है)।

कथं पुनर्यत एव चित्तादुत्पद्यते तदेवालम्बनं भवति। यथा तदनिच्छतां केषांचित्कस्यांचिदवस्थायाम् यत एव चित्तान्मनोविज्ञानमुत्पद्यते तदालम्बनमेव तदुत्पद्यते।

पुनः (यह प्रश्न होता है कि) जिस चित्त से वह उत्पन्न होता है, वही उसका आलम्बन कैसे होता है? (इसका उत्तर है) जैसा कि उसको (आलय विज्ञान को) न मानने वाले कुछ दार्शनिकों के विचार में किसी (विशेष) अवस्था में जिस चित्त से मनोविज्ञान उत्पन्न होता है, (वह विज्ञान) उसी चित्त के आलम्बन से ही उत्पन्न होता है।

मनोनाम विज्ञानमिति। मन इति नाम आख्या यस्य विज्ञानस्य, तदालयविज्ञानमाश्रित्य प्रवर्तते तदालम्बनं च। मनोनाम इत्यनेनालयविज्ञानात्प्रवृत्तिविज्ञानाच्च व्यवच्छिनत्ति। तत्पुनः किंस्वभावमित्याह—'मननात्मकमिति'। एवं मननात्मकत्वान्मन इत्युच्यते नैरुक्तेन विधिना।

वह मन नामक विज्ञान है। मन जिसकी आख्या है, उस विज्ञान की उस आलयविज्ञान के आश्रय से प्रवृत्ति होती है तथा वही उसका आलम्बन है।

'वह मन है'—इस पद से आलयविज्ञान तथा प्रवृत्तिविज्ञान से उसका पार्थक्य दिखलाया जाता है। पुनः उसका क्या स्वभाव है, (इसको दर्शाते हुए) कहा गया है कि 'वह मननात्मक है'। इस प्रकार शब्द निर्वचन की प्रक्रिया से मननात्मक होने के कारण वह मन कहलाता है।

(६)

विज्ञानस्वरूपत्वादवश्यं तच्चैत्तैः संप्रयुज्यते। इदं तु न ज्ञायते कतमैस्तच्चैत्तैः कियद्भिः कियन्तं कालं वा संप्रयुज्यत इत्यत आह—

क्लेशैश्चतुर्भिः सहितं निवृताव्याकृतैः सदा।

(६)

विज्ञान स्वरूप होने के कारण उसको अवश्य चैत्तों से युक्त होना चाहिए। यह नहीं ज्ञात होता है कि वह किन तथा कितने चैत्तों से कितने काल के लिए सम्प्रयुक्त होता है, अतः कहा गया है—

'चार निवृताव्याकृत क्लेशों के साथ वह सर्वदा रहता है'।

चैत्ता हि द्विप्रकाराः क्लेशास्तदन्ये च। तदन्येभ्यो व्यवच्छेदार्थमाह-'क्लेशैरिति'। क्लेशा अपि षट्। न च तैः संप्रयुज्यतेऽतश्चतुर्भिरित्याह। सहितमिति संप्रयुक्तम्। क्लेशा अपि द्विविधाः, अकुशला निवृताव्याकृताश्च। अकुशलेभ्यो विशेषार्थमाह-निवृताव्याकृतैरिति।

न हि निवृतेन विज्ञानेनाकुशलानां संप्रयोगः संभवति। निवृताः क्लिष्टत्वात्। अव्याकृताः कुशलाकुशलत्वेनाव्याकरणात्। सदेति सर्वकालम्। यावदस्ति[1] तावत्तैः संप्रयुक्तम्।

चैत्त दो प्रकार के होते हैं,—क्लेश तथा उनसे भिन्न। यहां अन्यों से (अर्थात् क्लेश भिन्न चैत्तों से) पृथक् करने के लिए कहा गया है—'क्लेशों से'। क्लेश छः प्रकार के हैं। उन सभी के साथ सम्प्रयुक्त नहीं होता है, अतः चार के साथ कहा गया है। 'सहित' का अर्थ सम्प्रयुक्त है। क्लेश भी दो प्रकार के हैं—अकुशल तथा निवृताव्याकृत। अकुशलों से पृथक् करने के लिए कहा गया है—'निवृताव्याकृत के साथ रहता है'। निवृत विज्ञान के साथ अकुशलों का सम्प्रयोग संभव नहीं है। क्लिष्ट होने के कारण वे निवृत कहलाते हैं। कुशल या अकुशल के रूप में व्याकृत न होने के कारण अव्याकृत हैं। 'सदा' का अर्थ सर्वकाल है। जब तक (वह आलय विज्ञान रहता) है, तब तक वह (उन क्लेशों से सम्प्रयुक्त) रहता है।

१. C. यावत्तदस्ति।

सामान्यनिर्देशात् विशेषतो न ज्ञायन्त इति विशेषतो निर्दिशति—

आत्मदृष्ट्यात्ममोहात्ममानात्मस्नेहसंज्ञितैः ॥ ६ ॥

सामान्य के निर्देश से विशेष का ज्ञान नहीं होता है, अतः विशेष का निर्देश किया जाता है।

'आत्मदृष्टि, आत्ममोह, आत्ममान तथा आत्मस्नेह नामक चार क्लेशों से युक्त रहता है' ॥ ६ ॥

उपादानस्कन्धेष्वात्मेति दर्शनमात्मदृष्टिः । सत्कायदृष्टिरित्यर्थः । मोहोऽज्ञानम् । आत्मन्यज्ञानमात्ममोहः । आत्मविषये मान आत्ममानोऽस्मिमान इत्यर्थः ।

उपादानस्कन्धों को आत्मा के रूप में देखना आत्मदृष्टि है। सत्कायदृष्टि इसका अर्थ है।

मोह अज्ञान को कहते हैं। आत्मविषयक अज्ञान को आत्म मोह कहते हैं। आत्मविषयक मान को आत्ममान कहते हैं, अस्मिमान इसका अर्थ है।

आत्मनि स्नेह आत्मस्नेह[1] आत्मप्रेमेत्यर्थः । तत्रालयविज्ञानस्वरूपे संमूढः सन्नालयविज्ञाने आत्मदृष्टिमुत्पादयति । आत्मदर्शनाद्या चित्तस्योन्नतिः सोऽस्मिमानः । एतस्मिंस्त्रये सति आत्माभिमते वस्तुनि योऽभिष्वङ्गः, स आत्मस्नेहः । आह च—

आत्मस्नेह का अर्थ है आत्मा में प्रेम रखना। आलयविज्ञान के स्वरूप को न जानता हुआ मनुष्य आलयविज्ञान में आत्मदृष्टि उत्पन्न करता है। अर्थात् उसी को आत्मा समझता है। आत्मदृष्टि के कारण जो चित्त की उन्नति है, वह अस्मिमान है। इन तीनों के होने पर आत्मा के रूप में समझते हुए वस्तु में जो आसक्ति है, वही आत्मस्नेह है। कहा गया है—

अविद्यया चात्मदृष्ट्या चास्मिमानेन तृष्णया ।
एभिश्चतुर्भिः संक्लिष्टं मननालक्षणं मनः ॥
विपर्यासनिमित्तं तु मनः क्लिष्टं सदैव यत् ।
कुशलाव्याकृते चित्ते सदाहङ्कारकारणम् ॥

(७)

एते हि—

'आत्ममोहादयः क्लेशा मनोवन्नवभूमिकाः ।'

---

१. C. adds.

मनन लक्षण वाला मन अविद्या, आत्मदृष्टि, अस्मिमान और तृष्णा इन चारों से संक्लिष्ट है। जो क्लिष्ट मन है, वही सर्वदा मिथ्या ज्ञान का निमित्त है। कुशल एवं अव्याकृत चित्त में सर्वदा अहंकार का कारण है।

(७)

'ये आत्ममोहादि क्लेश मन के समान नव भूमि वाले हैं'।

इह च सामान्येनाभिधानान्न ज्ञायते किं स्वभूमिकैरेव संप्रयुज्यते, उतान्यभूमिकैरपीत्यत आह—

यत्रजस्तन्मयैर्—

यहां सामान्यतः कथन से यह नहीं ज्ञात होता है कि वह अपनी भूमि वालों के साथ सम्प्रयुक्त होता है या अन्य भूमि वालों के साथ भी, एतदर्थ कहा गया है—

'जहां जन्म लेता है, उन्हीं के साथ'...।

इति। यत्र जातो यत्रजः। तन्मयैरिति यत्र धातौ भूमौ वा जातस्तद्धातुकैः तद्भूमिकैरेव च संप्रयुज्यते नान्यधातुकैरन्यभूमिकैर्वा।

'यत्रज' का अर्थ है जहां उत्पन्न होता है। 'उसके साथ' से अभिप्राय है कि जिस धातु या भूमि में उत्पन्न होता है उसी धातु और भूमि वालों के साथ सम्प्रयुक्त होता है, अन्य धातु और भूमि वालों के साथ नहीं।

किं पुनश्चतुर्भिरेव क्लेशैः संप्रयुज्यते। नेत्याह—

.........—अन्यैः स्पर्शाद्यैश्च—

पुनः क्या वह चार ही क्लेशों से सम्प्रयुक्त होता है? नहीं, इस अभिप्राय से कहा गया है:—

.........अन्य स्पर्शादि के साथ भी—

संप्रयुज्यत इति संबध्यते। च शब्दः समुच्चयार्थः। स्पर्शाद्यैरिति स्पर्शमनस्कारवेदनासंज्ञाचेतनाभिः। एते हि पंचधर्माः सर्वत्रगत्वात्सर्वविज्ञानैः संप्रयुज्यन्ते। एतैरपि यत्र जातस्तन्मयैरेव संप्रयुज्यते नान्यधातुभूमिकैः। अथ वान्यैरिति मूलविज्ञानसंप्रयुक्तेभ्यो व्यवच्छेदार्थम्। मूलविज्ञाने ह्यनिवृताव्याकृताः स्पर्शादयः। क्लिष्टे तु मनसि मनोवन्निवृताव्याकृताः।

यदि तत्क्लिष्टं मनः कुशलक्लिष्टाव्याकृतावस्थास्वविशेषेण प्रवर्तते न तस्य तर्हि निवृत्तिरस्ति। अनिवृत्ते च तस्मिन्कुतो मोक्ष इति ? कथं न मोक्षाभावः प्रसज्यते ?

सम्प्रयुक्त होता है—ऐसा सम्बन्ध कर लेना चाहिए। 'च' शब्द समुच्चय के लिए है। स्पर्शादि का अर्थ है स्पर्श, मनस्कार, वेदना, संज्ञा तथा चेतना के साथ। ये पांच धर्म सर्वत्रगामी होने के कारण सभी विज्ञानों से सम्प्रयुक्त होते हैं। जहां ये उत्पन्न होते हैं; उन्हीं के साथ इनका सम्प्रयोग होता है, अन्य धातु तथा भूमि वालों के साथ नहीं। अथवा 'अन्य' शब्द यहां पर मूलविज्ञान से सम्प्रयुक्तों से पृथक् करने के लिए है। मूलविज्ञान में अनिवृताव्याकृत स्पर्शादि हैं। क्लिष्ट मन में मन के समान ही निवृताव्याकृत हैं।

यदि वह क्लिष्ट मन कुशल, क्लिष्ट और अव्याकृत अवस्थाओं में सामान्य रूप से प्रवृत्त होता है तब तो उसकी निवृत्ति ही नहीं हो सकती है। उसकी निवृत्ति नहीं होने पर पुनः मोक्ष ही कहां ? अतः मोक्ष के अभाव की प्राप्ति कैसे नहीं होगी ?

न प्रसज्यते। यस्मात्—

—अर्हतो न तत्।

न निरोधसमापत्तौ, मार्गे लोकोत्तरे न च ॥ ७ ॥

(मोक्ष के अभाव की प्राप्ति) नहीं हो सकती है। क्योंकि—
'अर्हत् को वह मन नहीं होता है। न वह निरोधसमापत्ति की अवस्था में रहता है और न लोकोत्तर मार्ग में ही' ॥ ७ ॥

अर्हतस्तावदशेषक्लेशप्रहाणात्क्लिष्टं मनो नैवास्ति, तद्धि भावाग्रिकभावनाप्रहातव्यक्लेशवदर्हत्त्वप्राप्त्यानन्तर्यमार्गेणैव प्रहीयते। तदन्यक्लेशवदर्हत्वावस्थायां नैव विद्यते। आकिंचन्यायतनवीतरागस्याप्यनागामिनो निरोधसमापत्तिलाभिनो मार्गबलेन निरोधसमापत्तेर्लभ्यत्वान्मार्गवन्निरोधसमापत्त्यवस्थायामपि निरुध्यते। निरोधाच्च व्युत्थितस्य पुनरालयविज्ञानादेव प्रवर्तते।

मार्गे लोकोत्तरे न चेति। लोकोत्तरग्रहणं लौकिकव्यवच्छेदार्थम्। लौकिके तु मार्गे क्लिष्टं मनः प्रवर्तत एव। नैरात्म्यदर्शनस्यात्मदर्शनप्रतिपक्षत्वान्न लोकोत्तरमार्गे प्रवर्तितुमुत्सहते[1]। विपक्षप्रतिपक्षयोरयौगपद्या-

---

१. A.-सहेत।

ल्लोकोत्तरमार्गे तन्निरुध्यते। तस्मादपि व्युत्थितस्य पुनरालयविज्ञानादेवोत्पद्यते।

अर्हत् के सम्पूर्ण क्लेश नष्ट हो जाने के कारण क्लिष्ट मन भी नहीं रहता हैं, क्योंकि वह (क्लिष्ट मन) भावाग्रिकभावना से नष्ट होने वाले क्लेशों के समान आनन्तर्य मार्ग से ही नष्ट हो जाता है। वह अन्य क्लेशों के समान अर्हत् की अवस्था में विद्यमान नहीं रहता है। आकिञ्चन्यायतन अवस्था से वीतराग अनागामी निरोधसमापत्तिलाभ करने वाले को मार्ग के बल से निरोधसमापत्ति की प्राप्ति होती है, इसलिए मार्ग के समान निरोधसमापत्ति की अवस्था में वह निरुद्ध हो जाता है। निरोधसमापत्ति से उठने पर पुनः आलयविज्ञान से प्रवृत्त होता है।

लोकोत्तर मार्ग में नहीं होता है। लोकोत्तरग्रहण लौकिक के व्यवच्छेद के लिए है। लौकिक मार्ग में क्लिष्टमन प्रवृत्त होता है। नैरात्म्यदर्शन का आत्मदर्शन प्रतिपक्षी होने के कारण लोकोत्तर मार्ग में वह नहीं प्रवृत्त हो सकता है। पक्ष एवं प्रतिपक्ष दोनों एक साथ नहीं हो सकते हैं, अतः वह लोकोत्तर मार्ग में निरुद्ध हो जाता है। अतः (उससे) उठने पर पुनः आलयविज्ञान से ही वह उत्पन्न होता है।

(८)

द्वितीयः परिणामोऽयम्—

उद्दिष्टो निर्दिष्टश्चेति निगमयति।

(८)

'यह द्वितीय परिणाम हैं.........'।

(वह) उदिष्ट और निर्दिष्ट हो गया, ऐसा उपसंहार करते हैं।

द्वितीयपरिणामानन्तरं तृतीयपरिणामो वक्तव्य इत्यत आह—

—तृतीयः षड्विधस्य या।

विषयस्योपलब्धिः सा—

द्वितीय परिणाम के (कथन के) अनन्तर तृतीय परिणाम को कहना चाहिए, अतः कहा गया है—

'जो छ प्रकार की विषयोपलब्धियां हैं, उन्हीं का नाम तृतीय परिणाम है'।

तृतीयो विज्ञानपरिणाम इति वाक्यशेषः। षड्विधस्येति षट्प्रकारस्य रूपशब्दगन्धरसस्प्रष्टव्यधर्मात्मकस्य विषयस्य या उपलब्धिर्ग्रहणं प्रतिपत्तिरित्यर्थः।

—'यह तृतीय विज्ञानपरिणाम है', यह वाक्यशेष है। 'षड्विध' का अर्थ—रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य तथा धर्म—इन छ प्रकार के विषयों की उपलब्धि, ग्रहण या प्रतिपत्ति।

सा पुनः किं कुशला अकुशला अव्याकृतेत्यत आह—

—कुशलाकुशलाद्वया ॥ ८ ॥

पुनः वह कुशल, अकुशल या अव्याकृत है, इसको बतलाया जाता है—

……'कुशल, अकुशल और अद्वय' ॥ ८ ॥

कुशलाऽकुशलाऽद्वयेत्यव्याकृतापि। अलोभाद्वेषामोहैः संप्रयुक्ता कुशला। लाभद्वेषमोहैः संप्रयुक्ताऽकुशला। कुशलाकुशलैरसंप्रयुक्ता अद्वया। न कुशला नाकुशलेत्यर्थः।

कुशल, अकुशल तथा अद्वय अर्थात् अव्याकृत है। अलोभ, अद्वेष तथा अमोह (कुशल हेतुओं) से सम्प्रयुक्त होने के कारण कुशल कहलाता है। लोभ, द्वेष तथा मोह से सम्प्रयुक्त होने से अकुशल है। कुशल तथा अकुशल इन दोनों से असम्प्रयुक्त (वह) अद्वय अर्थात् अव्याकृत कहलाता है, जो न कुशल ही है, न अकुशल ही, ऐसा समझना चाहिए।

(६)

सा पुनः कीदृशैश्चैतसिकैः संप्रयुज्यते? कियन्तो वा तत्संप्रयोगिणश्चैतसिका इत्यत आह—

सर्वत्रगैर्विनियतैः कुशलैश्चैतसैरसौ।
संप्रयुक्ता तथा क्लेशैरुपक्लेशैस्त्रिवेदना ॥ ९ ॥

(९)

पुनः वह (तृतीय परिणाम) किन चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होता है? या कितने चैतसिक उसके सम्प्रयोगी हैं, (इस अभिप्राय से) कहा गया है:—

—"वह सर्वत्रग, विनियत, कुशल, क्लेशों, उपक्लेशों—इन चैतसिकों से तथा तीन प्रकार की वेदनाओं से सम्प्रयुक्त है" ॥ ९ ॥

य एते सर्वत्रगा[1] उद्दिष्टास्ते न विज्ञायन्त इत्यतस्तत्प्रदर्शनार्थमाह।

जो सर्वत्रगति वाले कहे गये, वे (सम्यक् रूप से) ज्ञात नहीं होते हैं; अतः उनको दर्शाने के लिए कहा गया है—

1. C. सर्वत्रगादय।

(१०)

आद्याः स्पर्शादयः—

आदौ निर्दिष्टत्वादाद्याः, सर्वत्रगा इत्यर्थः। तथा हि—सदा स्पर्शमनस्कारवित्संज्ञाचेतनान्वितम् इति प्रथमतो निर्दिष्टाः। स्पर्श एषामादिरिति स्पर्शादयः। ते पुनः स्पर्शमनस्कारादयः पञ्च धर्माः सर्वं चित्तमनुगच्छन्तीति सर्वत्रगाः। तथा ह्येत आलयविज्ञाने क्लिष्टे मनसि प्रवृत्तिविज्ञानेषु च अविशेषेण प्रवर्तन्ते।

(१०)

'(इस श्लोक के) प्रारम्भ में (सर्वत्रग शब्द से) स्पर्शादि गृहीत होते हैं'।

आदि में कहे जाने के कारण वे 'आद्य' कहे गये हैं, सर्वत्र गति वाले चैतसिक यहां 'आद्य' शब्द से गृहीत हैं। यथा—'स्पर्श, मनस्कार, वेदना, संज्ञा तथा चेतना से सर्वदा युक्त रहता है', यह पहले कहा जा चुका है। इनमें स्पर्श प्रथम है, अतः स्पर्शादि कहा गया है। पुनः वे स्पर्श मनस्कार आदि पांच धर्म सभी चित्तों में अनुगत हैं, अतः सर्वत्र गतिवाले कहे जाते हैं। यथा ये आलयविज्ञान, क्लिष्ट मन तथा प्रवृत्तिविज्ञान में अविशेष रूप से प्रवृत्त होते हैं।

विनियतानधिकृत्याह—

—छन्दाधिमोक्षस्मृतयः सह।

समाधिधीभ्यां नियताः—

(पुनः) विनियतों को लक्ष्य करके उक्त है कि :—

'समाधि, धी, छन्द, अधिमोक्ष, तथा स्मृति—ये विनियत चैतसिक हैं'।

विशेषे नियतत्वाद्विनियताः। एषां हि विशेष एव विषयो न सर्वः।

विशेष विषय में नियत रहने के कारण विनियत कहे गये हैं क्योंकि इनके विशेष ही विषय होते हैं, सभी नहीं।

तत्र छन्दोऽभिप्रेते वस्तुन्यभिलाषः। अभिप्रेते वस्तुन्यभिलाष इति प्रतिनियतविषयत्वं ज्ञापितं भवत्यनभिप्रेते छन्दाभावात्। दर्शनश्रवणादिक्रियाविषयत्वेन यदभिमतं वस्तु तदभिप्रेतम्। तत्र दर्शनश्रवणादि प्रार्थना छन्दः। स च वीर्यारम्भसंनिश्रयदानकर्मकः।

अभीष्ट वस्तु की अभिलाषा को छन्द कहते हैं। 'अभीष्ट वस्तु में अभिलाषा' ऐसा कहने से उसके विषय की निश्चितता ज्ञापित होती है क्योंकि अनिष्ट वस्तु में

इच्छा का अभाव होता है। दर्शन श्रवणादि क्रियाओं के विषय के रूप में जो अभीष्ट है, वही अभिप्रेत है। दर्शन श्रवणादि की प्रार्थना ही छन्द है। वह उसके लिए वीर्यारम्भ (उद्योग करने का) का आश्रय प्रदान करता है।

अधिमोक्षो निश्चिते वस्तुनि तथैवावधारणम्। निश्चितग्रहणमनिश्चितप्रतिषेधार्थम्। युक्तित आप्तोपदेशतो वा यद्वस्तु असंदिग्धं तन्निश्चितम्। येनैवाकारेण तन्निश्चितमनित्यदुःखाद्याकारेण तेनैवाकारेण तस्य वस्तुनश्चेतस्यभिनिवेशनमेवमेतन्नान्यथेत्यवधारणमधिमोक्षः। स चासंहार्यतादानकर्मकः। अधिमुक्तिप्रधानो हि स्वसिद्धान्तात्परप्रवादिभिरपहर्तुं न शक्यते।

निश्चित वस्तु का उसी प्रकार अवधारण करना ही अधिमोक्ष है। निश्चित शब्द का ग्रहण अनिश्चित के निषेध के लिए है। युक्ति या आप्तोपदेश से जो वस्तु सन्देहरहित है, वह निश्चित (वस्तु) कहलाता है। जिस अनित्य दुःख आदि आकार से वह (वस्तु) निश्चित है, उसी आकार से उस वस्तु को चित्त में दृढ़ करना कि 'यह ऐसा ही है, इससे भिन्न नहीं—ऐसा निश्चय करना अधिमोक्ष कहलाता है। उसका कार्य असंहार्यता प्रदान करना है। अधिमोक्ष की प्रबलता होने पर मनुष्य परवादियों द्वारा अपने सिद्धान्त से विचलित नहीं किया जा सकता है।

स्मृतिः संस्तुते वस्तुन्यसंप्रमोषश्चेतसोऽभिलपनता। संस्तुतं वस्तु पूर्वानुभूतम्। आलम्बनग्रहणाविप्रणाशकारणत्वादसंप्रमोषः। पूर्वगृहीतस्य वस्तुनः पुनः पुनरालम्बनाकारस्मरणमभिलपनता। अभिलपनमेवाभिलपनता। सा पुनरविक्षेपकर्मिका। आलम्बनाभिलपने सति चित्तस्यालम्बनान्तरे आकारान्तरे वा विक्षेपाभावादविक्षेपकर्मिका।

पूर्व अनुभूत वस्तु में जो चित्त का असंप्रमोष और अभिलपनता है, वही स्मृति है। 'संस्तुत' वस्तु का अर्थ है पूर्वानुभूत वस्तु। आलम्बन ग्रहण के नाश न होने का कारण होने से असंप्रमोष है। पूर्वगृहीत वस्तु का आलम्बन के रूप में पुनः पुनः स्मरण ही अभिलपनता है। अभिलपन ही अभिलपनता है। उसका कार्य विक्षेप का अभाव करना है। आलम्बन का अभिलपन होने पर चित्त दूसरे आलम्बन या आकार में विक्षिप्त नहीं होता।

समाधिरुपपरीक्ष्ये वस्तुनि चित्तस्यैकाग्रता। उपपरीक्ष्यं वस्तु गुणतो दोषतो वा। एकाग्रता एकालम्बनता। ज्ञानसंनिश्रयदानकर्मकः। समाहिते चित्ते यथाभूतपरिज्ञानात्।

उपपरीक्ष्य वस्तु में चित्त की एकाग्रता समाधि है। गुण और दोष की जिसमें परीक्षा की जाय, वह उपपरीक्ष्य वस्तु है। एकाग्रता का अर्थ है एकालम्बनता अर्थात् एक ही आलम्बन का होना। उसका कार्य ज्ञान का सन्निश्रय प्रदान करना है। क्योंकि चित्त के समाहित होने पर यथार्थ ज्ञान होता है।

धीः प्रज्ञा। साप्युपपरीक्ष्य एव वस्तुनि प्रविचयो योगायोगविहितोऽन्यथा वेति। प्रविचिनोतीति प्रविचयः। यः सम्यङ् मिथ्या वा संकीर्णस्वसामान्यलक्षणेष्विव धर्मेषु विवेकाववोधः।

धी का अर्थ है प्रज्ञा। वह भी उपपरीक्ष्य वस्तु में योगविहित या अयोगविहित या इन दोनों से भिन्न प्रविचय का नाम है। प्रकृष्ट से विचयन करने को प्रविचय कहते हैं। सत्य तथा मिथ्या जिनमें मिश्रित सा है, उन स्वलक्षण तथा सामान्यलक्षण वाले धर्मों के विवेक युक्त ज्ञान का यह नाम है।

युक्तिर्योगः। स पुनराप्तोपदेशोऽनुमानं प्रत्यक्षं च। तेन त्रिप्रकारेण योगेन यो जनितः स योगविहितः। स पुनः श्रुतमयश्चिन्तामयो भावनामयश्च।

युक्ति को योग कहते हैं। वह प्रत्यक्ष अनुमान तथा आप्तोपदेश तीन प्रकार का है। उस तीन प्रकार के योग से जो जनित है, वह योगविहित है। वह पुनः श्रुतमय चिन्तामय तथा भावनामय होता है।

तत्राप्तवचनप्रामाण्याद्योऽवबोधः स श्रुतमयः।
युक्तिनिध्यानजश्चिन्तामयः।
समाधिजो भावनामयः।

इनमें आप्तवचन के प्रामाण्य से जो ज्ञान होता है, वह श्रुतमय है।
युक्तियों के द्वारा जो ज्ञान होता है, वह चिन्तामय कहलाता है।
समाधि जनित ज्ञान को भावनामय कहा जाता है।

अयोगोऽनाप्तोपदेशोऽनुमानाभासो मिथ्याप्रणिहितश्च समाधिस्तेनायोगेन जनितोऽयोगविहितः।

अयोग भी तीन प्रकार का होता है—अनाप्तोपदेश, अनुमानाभास तथा मिथ्याप्रणिहित समाधि। उस अयोग से उत्पन्न को अयोग विहित कहा गया है।

उपपत्तिप्रतिलम्भिको लौकिकव्यवहारावबोधश्च न योगविहितो नायोगविहितः। एषा च संशयव्यावर्तनकर्मिका। संशयव्यावर्तनं प्रज्ञया धर्मान्प्रविचिन्वतो निश्चयलाभादिति। एते हि पञ्च धर्माः परस्परं

व्यतिरिच्यापि प्रवर्तन्ते[1]। एवं यत्राधिमोक्षस्तत्र नावश्यमितरैरपि भवितव्यम्। एवं सर्वत्र वाच्यम्। उक्ता विनियताः।

उपपत्तियों के आधार पर जो लौकिक व्यवहार का ज्ञान है वह न योगविहित है, न अयोगविहित ही। इस प्रज्ञा का काम संशय को हटाना है। प्रज्ञा से धर्मों के ज्ञान होने से निश्चय का लाभ होता है, जिससे संशय की निवृत्ति हो जाती है। ये पांच धर्म एक दूसरे से पृथक् भी प्रवृत्त होते हैं। अतः जहां अधिमोक्ष है, वहां अन्य धर्मों का होना आवश्यक नहीं है। ऐसा ही सर्वत्र समझना चाहिए। इस प्रकार विनियत चैतसिकों को कह दिया गया।

तदनन्तरोद्दिष्टास्त्विदानीं कुशला वक्तव्या इत्यत आह—

श्रद्धाथ ह्रीरपत्रपा ॥ १० ॥

(११)

अलोभादित्रयं वीर्यं प्रश्रब्धिः साप्रमादिका।

अहिंसा कुशलाः ––

एत एकादश धर्मा इति वाक्यशेषः।

इसके अनन्तर कहे गये कुशलों को कहना चाहिए, अतः कहा गया है—

'श्रद्धा, ह्री, अपत्रपा ॥ १० ॥

(११)

अलोभ, अद्वेष, अमोह, वीर्य, प्रश्रब्धि, अप्रमाद तथा अहिंसा—

ये ग्यारह धर्म कुशल हैं, यह वाक्य शेष है।

तत्र श्रद्धा कर्मफलसत्यरत्नेष्वभिसंप्रत्ययः प्रसादश्चेतसोऽभिलाषः। श्रद्धा हि त्रिधा प्रवर्तते। सति वस्तुनि गुणवत्यगुणवति वा संप्रत्ययाकारा, सति गुणवति च प्रसादाकारा, सति गुणवति च प्राप्तुमुत्पादयितुं वा शक्येऽभिलाषाकारा चेतसः प्रसाद इति। श्रद्धा हि चित्तकालुष्यवैरोधिकीत्यतस्तत्संप्रयोगे क्लेशोपक्लेशमलकालुष्यविगमाच्चित्तं श्रद्धामागम्य प्रसीदतीति चेतसः प्रसाद उच्यते। सा पुनश्छन्दसंनिश्रयदानकर्मिका।

कर्मफल, आर्यसत्य एवं त्रिरत्नों में विश्वास प्रसाद तथा चित्त की अभिलाषा को श्रद्धा कहते हैं। श्रद्धा तीन प्रकार से प्रवृत्त होती है। विद्यमान, गुणवान या गुणहीन वस्तु में सम्प्रत्ययाकार अर्थात् विश्वास के रूप में, विद्यमान गुणवान वस्तु

---

१. व्यावर्तन्ते।

में प्रसाद अर्थात् रुचि के रूप में तथा विद्यमान गुणवान वस्तु, जिसे प्राप्त या उत्पन्न किया जा सकता है, उसमें अभिलाषा के रूप में (उत्पन्न होती है)। श्रद्धा चित्त की कलुषता की विरोधिनी है, उसके संयोग से क्लेश तथा उपक्लेश रूपी मलों के नष्ट हो जाने से चित्त श्रद्धा को प्राप्त कर प्रसन्न होता है; अतः उसे चित्त का प्रसाद कहा गया है। इसका कार्य छन्द (इच्छा) को आश्रय देना है।

ह्रीरात्मानं धर्मं वाधिपतिं कृत्वावद्येन लज्जा। सद्भिर्गर्हितत्वादनिष्टविपाकत्वाच्च पापमेवावद्यम्। तेनावधेन कृतेनाकृतेन वा या चित्तस्यावलीनता लज्जा सा ह्रीः। इयं च दुश्चरितसंयमनसंनिश्रयदानकर्मिका।

आत्मगौरव या धर्मगौरव की बुद्धि से पाप करने में लज्जा का नाम ह्री है। सज्जनों से गर्हित होने से तथा अनिष्ट परिणामवाला होने से पाप ही अवद्य कहलाता है। उस पाप के प्रति चाहे वह किया गया हो, या न किया गया हो, जो चित्त का संकोच या लज्जा है, वह ह्री कहलाती है। इसका कार्य दुश्चरित्र से संयम को आश्रय देना है।

अपत्राप्यं लोकमधिपतिं कृत्वावद्येन लज्जा। लोके ह्येतद्गर्हितं मां चैवं कर्माणं विदित्वा गर्हिष्यतीत्यश्लोकादिभयाद्येन लज्जते। इदमपि दुश्चरितसंयमनसंनिश्रयदानकर्मकम्।

अपत्रपा लोक गौरव को ध्यान में रखते हुए पाप करने में लज्जा को कहते हैं। लोक में यह कार्य निन्दित है,—मुझको ऐसा करने वाला जानकर (लोग) निन्दा करेंगे—इस प्रकार अप्रशंसा आदि के भय से उत्पन्न लज्जा को अपत्रपा कहते हैं। इसका कार्य दुश्चरित्र से संयम को आश्रय देना है।

अलोभो लोभप्रतिपक्षः। लोभो नाम भवे भवोपकरणेषु च यासक्तिः प्रार्थना च। तत्प्रतिपक्षोऽलोभो भवे भवोपकरणेषु चानासक्तिः वैमुख्यं च। अयं च दुश्चरिताप्रवृत्तिसंनिश्रयदानकर्मकः।

अलोभ लोभ का प्रतिपक्षी है। लोभ भव या भव के उपकरणों में आसक्ति या प्रार्थना को कहते हैं। इसका प्रतिपक्षी अलोभ भव या भव के उपकरणों में अनासक्ति या विमुखता का नाम है। इसका कार्य दुराचरण में अप्रवृत्ति को आश्रय प्रदान करना है।

अद्वेषो द्वेषप्रतिपक्षो मैत्री। द्वेषो हि सत्वेषु दुःखे दुःखस्थानीयेषु च धर्मेष्वाघातः। अद्वेषो द्वेषप्रतिपक्षत्वात्सत्वेषु दुःखे दुःखस्थानीयेषु च धर्मेष्वनाघातः। अयमपि दुश्चरिताप्रवृत्तिसंनिश्रयदानकर्मकः।

अद्वेष मैत्री को कहते हैं, जो द्वेष का प्रतिपक्षी है। द्वेष प्राणियों के प्रति, या दुःख में, दुःखस्थानीय धर्मो मे आघात है। अद्वेष द्वेष का विरोधी होने से प्राणियों के प्रति या दुःख में या दुःखस्थानीय धर्मों में अनाघात को कहते हैं। इसका भी कार्य दुश्चरित्र में अप्रवृत्ति को आश्रय देना है।

अमोहो मोहप्रतिपक्षः। अयथाभूतसंप्रतिपत्तिर्मोहः, कर्मफलसत्यरत्नेष्वज्ञानम्। मोहप्रतिपक्षत्वादमोहस्तेष्वेव कर्मफलसत्यरत्नेषु संप्रतिपत्तिः। अयमपि दुश्चरिताप्रवृत्तिसंनिश्रयदानकर्मकः।

अमोह मोह का प्रतिपक्षी है। मोह मिथ्या ज्ञान का नाम है, जो कि कर्मफल, आर्यसत्य तथा त्रिरत्नों के विषय में अज्ञान है। मोह का प्रतिपक्षी होने से अमोह कर्मफल, आर्यसत्य तथा त्रिरत्नों के ज्ञान को कहते हैं। यह दुश्चरित्र में अप्रवृत्ति को आश्रय प्रदान करता है।

वीर्यं कौशीद्यप्रतिपक्षः। कुशले चेतसोऽभ्युत्साहः, न तु क्लिष्टे। क्लिष्टे तूत्साहः कुत्सितत्वात्कौशीद्यमेव। एतच्च कुशलपक्षपरिपूरणपरिनिश्रयकर्मकम्।

वीर्य, आलस्य का विरोधी है। कुशल कर्म में चित्त के उत्साह को वीर्य कहते हैं, क्लिष्ट कर्म में उत्साह को नहीं। क्लिष्ट कर्म का उत्साह नीन्द्य होने के कारण कौशीद्य ही कहलाता है। इसका कार्य कुशलपक्ष की पूर्ति को आश्रय प्रदान करना है।

प्रश्रब्धिर्दौष्ठुल्यप्रतिपक्षः कायचित्तकर्मण्यता। दौष्ठुल्यं कायचित्तयोरकर्मण्यता सांक्लेशिकधर्मबीजानि च। तदपगमे प्रश्रब्धिसद्भावात्। तत्र कायकर्मण्यता कायस्य स्वकार्येषु लघुसमुत्थानता यतो भवति। चित्तकर्मण्यता सम्यङ्मनसिकारसंप्रयुक्तस्याह्लादलाघवनिमित्तं यच्चैतसिकं धर्मान्तरं यद्योगा[२]च्चित्तमालम्बने प्रवर्ततेऽतस्तच्चित्तकर्मण्यतेत्युच्यते।

प्रश्रब्धि दौष्ठुल्य का प्रतिपक्षी काय तथा चित्त की कर्मण्यता का नाम है। दौष्ठुल्य काय तथा चित्त की अकर्मण्यता तथा सांक्लेशिक धर्मों के बीज का नाम है। उसके नष्ट होने पर प्रश्रब्धि होती है। उनमें कर्मण्यता काय के अपने कार्यों में लहुसमुत्थान को कहते हैं। चित्त कर्मण्यता सम्यक् मनस्कार से युक्त चित्त की

१. C. परिनिष्पत्ति।
२. C. तद्यो-।

आह्लाद तथा लाघव के कारण उत्पन्न ऐसी अवस्था का नाम है, जिसके योग से चित्त आलम्बन में प्रवृत्त होता है, एतदर्थ यह चित्तकर्मण्यता कहलाती है।

कायस्य पुनः स्प्रष्टव्य-विशेष एव प्रीत्या हृतः[1] कायप्रश्रब्धिर्वेदितव्या। 'प्रीतमनसः कायः प्रश्रभ्यत' इति सूत्रे वचनात्। इयं तद्वशेनाश्रयपरावृत्तितोऽशेषक्लेशावरणनिष्कर्षणकर्मिका।

प्रीति से आहृत काय के स्प्रष्टव्य विशेष को ही कायप्रश्रब्धि कहते हैं। (प्रसन्नता के कारण शरीर की जो विशेष स्थिति उत्पन्न होती है, वही कायप्रश्रब्धि है)। 'प्रीतिमन वाले का काय प्रश्रब्ध होता है'—इस सूत्र वचन से। उसके कारण आश्रय परावृत्ति होती है, (अतः) यह समस्त क्लेशावरण को हटाने का काम करती है।

साप्रमादिका। सहाप्रमादेन वर्तत इति साप्रमादिका। का पुनरसौ? उपेक्षा। कुत एतत्? एकान्तकुशलत्वात्। सर्वकुशलानां चेह निर्देशाधिकाराच्छ्रद्धादिवत् साक्षादनिर्देशात् तद्व्यतिरिक्तान्यकुशलाभावाच्च उपेक्षैव विज्ञायते।

साप्रमादिका। साप्रमादिका का अर्थ है अप्रमाद के साथ वर्तमान। यह क्या है? वह उपेक्षा है। यह कैसे? एकान्ततः कुशल होने के कारण। सभी कुशलधर्मों का निर्देश करते हुए श्रद्धा आदि के समान (इसका) साक्षात् निर्देश नहीं किये जाने से उसके अतिरिक्त अन्य कुशल नहीं हैं, अतः यह उपेक्षा ही मालूम पड़ती है।

तत्राप्रमादः प्रमादप्रतिपक्षः। अलोभाद्यावद्वीर्यमप्रमादः। यैरलोभादीन्निश्रित्याकुशलान्धर्मान्प्रजहाति तत्प्रतिपक्षांश्च कुशलान्धर्मान्भावयति, तेऽलोभादयोऽप्रमादः। अत एव प्रमादप्रतिपक्षः प्रमादस्यातो विपरीतत्वात्। स पुनर् लौकिकलोकोत्तरसंपत्तिपरिपूरणकर्मकः।

अप्रमाद प्रमाद का प्रतिपक्षी है। अलोभ से वीर्य तक अप्रमाद है। जिनके द्वारा अलोभादि के आश्रय से अकुशल धर्मों को छोड़ता है और उसके विरोधी कुशल धर्मों की भावना करता है, (अतः) वे अलोभादि अप्रमाद हैं। वे प्रमाद के विरोधी हैं क्योंकि प्रमाद उसका विपरीत धर्म है। इस अप्रमाद का कार्य लौकिक और लोकोत्तर सम्पति की पूर्ति करना है।

उपेक्षा चित्तसमता चित्तप्रशठता चित्तानाभोगता। एभिस्त्रिभिः पदैरुपेक्षाया आदिमध्यावसानावस्था द्योतिताः। तत्र लय औद्धत्यं

१. C. हृते।

वा चेतसो वैषम्यम् । तस्याभावादादौ चित्तसमता । ततोऽनभि-संस्कारेणाप्रयत्नेन समाहितचेतसो यथाभियोगं समस्यैव या प्रवृत्तिः सा चित्तप्रशठता । सा पुनरवस्था लयौद्धत्यशङ्कानुगताचिरभावित्वात् । ततो भावनाप्रकर्षगमनात्तद्विपक्षदूरीभावात्तच्छङ्काभावे लयौद्धत्यप्रतिपक्ष-निमित्तेष्वाभोगमकुर्वतोऽनाभोगावस्था चित्तस्यानाभोगता । इयं च सर्वक्लेशापक्लेशानवकाशसंनिश्रयदानकर्मिका ।

उपेक्षा चित्त की समता, प्रशठता तथा अनाभोगता को कहते हैं। इन तीन पदों से उपेक्षा की आदि, मध्य और अवसान अवस्था द्योतित होती है। चित्त का लय या उद्धतता वैषम्य है। उसके न होने से पहले चित्त की समता होती है। तब अभिसंस्कार और प्रयत्न के बिना ही समाहित चित्तवाले पुरुष की सम के समान जो प्रवृत्ति है, वह चित्त प्रशठता कहलाती है। पुनः वह अवस्था लय और औद्धत्य की शंका से युक्त रहती है (क्योंकि वह समता की स्थिति अभी प्राप्त हुई रहती है)। भावना के प्रकर्ष से इसके विपक्ष के दूर हो जाने से, उसकी शंका न रहने पर, लय और औद्धत्य के प्रतिपक्ष निमित्तों में आभोग न करने वाले को जो अनाभोग की अवस्था होती है, वही चित्त की अनाभोगता है। इसका कार्य सभी क्लेशों तथा उपक्लेशों को अवकाश न देना है।

अविहिंसा विहिंसाप्रतिपक्षः। वधबन्धनादिभिः सत्त्वानामविहेठन-मविहिंसा सत्वेषु करुणा। कं रुणद्धीति करुणा। कमिति सुखस्याख्या सुखं रुणद्धीत्यर्थः। कारुणिको हि परदुःखदुःखी भवतीति। इयं चावि-हेठनकर्मिका।

अविहिंसा विहिंसा का प्रतिपक्षी है। वध बन्धनादि के द्वारा प्राणियों की हिंसा न करना या दया करना अविहिंसा है। सुख को जो रोक रखे वह करुणा है। कं का अर्थ सुख है, उसको जो रोकती है, वह करुणा है क्योंकि कारुणिक परदुःख से दुखी होता है। इसका कार्य दुःख न देना है।

उक्ता एकादश कुशलास्तदनन्तरोद्दिष्टास्तु क्लेशा इत्यतस्तानधि-कृत्याह—

—क्लेशारागप्रतिघमूढयः ॥ ११ ॥

ग्यारह कुशल धर्म कह दिये गये, तदनन्तर क्लेशों का उपदेश किया गया है, अतः उनके विषय में कहते हैं।

'क्लेश हैं—राग द्वेष मोह' ॥ ११ ॥

(१२)

मानदृग्विचिकित्साश्च--

इति रागश्च प्रतिघश्च मूढिश्च रागप्रतिघमूढयः ।

तत्र रागो भवभोगयोरध्यवसानं प्रार्थना च । स पुनर्दुःखसंयोजन[1]-कर्मकः । दुःखमत्रोपादानस्कन्धास्तेषां कामरूपारूप्यतृष्णावशादभिनिर्वृत्तिः । अतो रागस्य दुःखसंयोजनं[2] कर्मनिर्दिश्यते ।

(१२)

'मान दृष्टि विचिकित्सा……' ।

राग द्वेष और मोह को रागप्रतिघमूढ़ी कहा गया है ।

भव और भोग का निश्चय और प्रार्थना राग कहलाता है । इसका कार्य दुःख का संयोजन करना है । उपादानस्कन्ध ही दुःख है, उनकी कामधातु, रूपधातु एवं अरूपधातु में तृष्णा के बल से अभिनिर्वृत्ति होती है । इसलिए राग का दुःख संयोजनकर्म कहा गया है ।

प्रतिघः सत्त्वेष्वाघातः सत्त्वेषु रूक्षचित्तता येनाविष्टः सत्त्वानां वधबन्धनादिकमनर्थं चिन्तयति । स पुनरस्पर्शविहार-दुश्चरितसंनिश्रयदानकर्मकः । स्पर्शः सुखं, तेन सहितो विहारः स्पर्शविहारः । न स्पर्शविहारोऽस्पर्शविहारः, दुःखसहित इत्यर्थः । आघातचित्तस्यावश्यं दौर्मनस्यसमुदाचाराच्चित्तं तप्यते । चित्तानुविधानाच्च कायोऽपि तप्यत एवेति सर्वेर्यापथेषु सदुःखसविघातोऽस्पर्शविहारो भवति । प्रतिहतचित्तस्य च न किंचिद् दुश्चरितं विदूर इति प्रतिघोऽस्पर्शविहारदुश्चरितसंनिश्रयदानकर्मक उक्तः ।

प्रतिघ प्राणियों के प्रति आघात या चित्त के रूखापन को कहते हैं, जिसके द्वारा आविष्ट होने पर मनुष्य प्राणियों के वधबन्धनादि रूप अनर्थ की चिन्ता करता है । यह अस्पर्शविहार और दुश्चरित्र को आश्रय प्रदान करता है । स्पर्श सुख है, उससे युक्त विहार स्पर्शविहार है । न स्पर्शविहार, अस्पर्शविहार, दुःख सहित इसका अर्थ है । आघात चित्त वाले व्यक्ति का मन मानसिक क्लेश से सन्तप्त रहता है । चित्त के सन्तप्त होने से काय भी सन्तप्त होता है, अतः सभी ईर्यापथों (व्यापारों) में दुःख और विघात से सहित अस्पर्श विहार होता है । जिसका चित्त द्वेषयुक्त रहता है, उसके लिए कोई दुश्चरित दूर नहीं है, अतः

१-२. A. संजनन ।

कहा गया है कि यह प्रतिघ अस्पर्शविहार और दुश्चरित को आश्रय प्रदान करने वाला है।

मोहोऽपायेषु सुगतौ निर्वाणे तत्प्रतिष्ठापकेषु हेतुषु तेषां चाविपरीते हेतुफलसम्बन्धे यदज्ञानम्। अयं च संक्लेशोत्पत्तिसंनिश्रयदानकर्मकः। तत्र क्लेशकर्मजन्मात्मकस्त्रिविधः संक्लेशः। तस्योत्पत्तिः पूर्वपूर्वसंक्लेशनिमित्त उत्तरोत्तरस्य संक्लेशस्यात्मलाभः। उत्पत्तेः संनिश्रयदानकर्मकमिति। मूढस्यैव हि मिथ्याज्ञानसंशयरागादिक्लेशपौनर्भविककर्मजन्मनां प्रवृत्तिर्नामूढस्येति।

अपाय, सुगति, निर्वाण, उसके प्रतिष्ठापक हेतु, उनके अविपरीत हेतुफल सम्बन्ध का जो अज्ञान है, उसे मोह कहते हैं। इसका कार्य क्लेशों की उत्पत्ति का आश्रय देना है। क्लेश, कर्म तथा जन्म ये तीन प्रकार के संक्लेश हैं। उसकी उत्पत्ति का अर्थ है पूर्व पूर्व क्लेशों के कारण उत्तर क्लेशों का उत्पन्न होना। उत्पत्ति का आश्रय देना इसका काम है। मूढ़ पुरुषों को मिथ्या ज्ञान, संशय, रागादिक्लेश, पुनर्जन्म प्रदान करने वाले कर्म तथा जन्म की प्रवृत्ति होती है, अमूढ़ को नहीं।

मानः। मानो हि नाम सर्व एव सत्कायदृष्टिसमाश्रयेण प्रवर्तते। स पुनश्चित्तस्योन्नतिलक्षणः। तथा ह्यात्मात्मीयभावं स्कन्धेष्वध्यारोप्यायमहमिदं ममेत्यात्मानं तेन तेन विशेषेणोन्नमयति अन्येभ्योऽधिकं मन्यते। स चागौरवदुःखोत्पत्तिसंनिश्रयदानकर्मकः। अगौरवं गुरुषु गुणवत्सु च पुद्गलेषु स्तब्धता कायवाचोरपश्रृतता। दुःखोत्पत्तिः पुनरत्र पुनर्भवोत्पत्तिः। स च पुनश्चित्तोन्नतिस्वरूपाभेदेऽपि चित्तोन्नतिनिमित्तभेदात्सप्तधा भिद्यते, मानोऽतिमान इत्येवमादि।

मान। सभी प्रकार का मान सत्काय दृष्टि के आश्रय से प्रवृत्त होते हैं। उसका लक्षण चित्त को गर्वित करना है। स्कन्धों में आत्मा और आत्मीय भाव को आरोपित कर 'यह मैं हूं' और 'यह मेरा है'—इस प्रकार की विविध विशेषताओं के आरोप से मनुष्य गर्व का अनुभव करता है तथा दूसरों से अपने को अधिक समझता है। इसका कार्य गौरवजनित दुःख की उत्पत्ति को आश्रय प्रदान करना है। गुरू तथा गुणवान मनुष्यों के प्रति शरीर और वाणी की अविनम्रता को अगौरव कहते हैं। दुःख की उत्पत्ति का अर्थ है पुनर्भव के रूप में उत्पत्ति। वह (मान) चित्त को गर्वित करने के रूप में एक होते हुए भी गर्वित करने वाले कारणों के भेद से सात प्रकार का होता है, यथा—मान, अतिमान इत्यादि।

हीनात्कुलविज्ञानवित्तादिभिः 'श्रेयानस्मि' कुलविज्ञानवित्तादिभिरिति या चित्तस्योन्नतिः सदृशेन वा कुलादिभिरेव 'सदृशोऽस्मीति' या चित्तस्योन्नतिः स मानः।

जो अपने से हीन कुल, ज्ञान और धनवाले हैं, उनसे 'मैं बड़ा हूँ', तथा जो अपने से समान कुल वाले आदि हैं, 'मैं उनके समान हूँ'—ऐसा जो अहंकार है, वह मान कहलाता है।

अतिमानः। कुलविज्ञानवित्तादिभिः सदृशात्त्यागशीलपौरुषादिभिः 'श्रेयानस्मि' श्रेयसा वा कुलविद्यादिभिः 'सदृशोऽस्मि' विज्ञानवित्तादिभिरित्ययमतिमानः।

अतिमान। जो कुल, ज्ञान, धन आदि से अपने समान हैं, उनसे त्याग, शील, पौरुष आदि में–'मैं श्रेष्ठ हूँ', और जो कुल विद्या आदि में अपने से श्रेष्ठ हैं,—'मैं उनके समान हूँ',—ऐसा अहंकार अतिमान कहलाता है।

श्रेयसः कुलविज्ञानवित्तैरहमेव श्रेयान्कुलविज्ञानवित्तैरिति या चित्तस्योन्नतिरयं मानातिमानः।

जो कुल धन ज्ञानादि में अपने से श्रेष्ठ हैं, 'उससे मैं बड़ा हूँ', ऐसी धारणा मानातिमान है।

अस्मिमानः। पञ्चसूपादानस्कन्धेष्वात्मात्मीयरहितेष्वात्मात्मीयाभिनिवेशाद्या चित्तस्योन्नतिः सोऽस्मिमानः।

'अस्मिमान। पांच उपादानस्कन्ध, जो आत्मा आत्मीय से रहित हैं, उनमें आत्मा आत्मीय के आग्रह से जो चित्त का अहंकार है, वह अस्मिमान है।

अभिमानः। अप्राप्त उत्तरे विशेषाधिगमे 'प्राप्तो मयेति' या चित्तस्योन्नतिः सोऽभिमानः।

अभिमान। विशेषता को प्राप्त किये बिना ही, यह मुझे प्राप्त हो गया है, ऐसा जानना अभिमान है।

ऊनमानः। बह्वन्तरविशिष्टात्कुलविद्यादिभिरल्पान्तरहीनोऽस्मि कुलविद्यादिभिरिति या चित्तस्योन्नतिरयमूनमानः।

ऊनमान। 'जो कुल विद्या आदि में बहुत बड़ा हो, उसके सम्बन्ध में यह सोचना कि 'मैं इससे थोड़ा कम हूँ', ऊनमान कहलाता है।

मिथ्यामानः। अगुणवतो गुणवानस्मीति 'या चित्तस्योन्नतिः स मिथ्यामानः। अगुणा हि दौःशील्यादयस्ते यस्य विद्यन्ते सोऽगुणवान्।

तस्माद्गुणवानस्मीत्यनेन हि दानशीलाद्यभावेऽपि गुणवत्त्वमभ्युपगतं भवतीत्यतो निर्वस्तुकत्वान्मिथ्यामान इत्युच्यते ।

मिथ्यामान । गुण न रहने पर भी अपने को गुणवान समझना मिथ्यामान है । दुःशीलता आदि अगुण हैं, उनसे जो युक्त है, वह अगुणवान है । उसी के कारण दान शील आदि के न रहने पर भी अपने को गुणवान समझता है । अतः निर्वस्तुक होने से मिथ्यामान कहलाता है ।

दृगिति सामान्यनिर्देशेऽपि क्लेशाधिकारात्पञ्चैव क्लेशात्मिकाः सत्कायदृष्ट्यादिका दृष्टयः संबध्यन्ते । न लौकिकी सम्यग्दृष्टिरनास्रवा । आसां तु क्लिष्टनितीरणाकारत्वादविशेषेऽप्यालम्बनाकारभेदात्परस्परतो भेदः ।

यद्यपि (श्लोक में) दृक् ऐसा सामान्य निर्देश है तो भी यह क्लेश का प्रकरण होने से पांच क्लेशात्मक सत्कायदृष्टि आदि दृष्टियां दृक् पद से ग्रहण की जाती हैं । लौकिक अनाश्रव सम्यक् दृष्टि न ली जाती है । यद्यपि ये पांचो दृष्टियां क्लिष्ट हैं, पर आलम्बन और आकार के भेद से इनमें परस्पर भेद होता है ।

तत्र सत्कायदृष्टिर्यत्पञ्चसूपादानस्कन्धेष्वात्मात्मीयदर्शनम् ।

पांच उपादानस्कन्धों में आत्मा या आत्मीयवत् अवधारण करना आत्मदृष्टि है ।

अन्तग्राहदृष्टिस्तेष्वेव पञ्चसूपादानस्कन्धेष्वात्मीयत्वेन गृहीतेषु यदुच्छेदतः शाश्वततो वा दर्शनम् ।

पांच उपादानस्कन्धों में आत्मा या आत्मीय भाव रखते हुए उसे शाश्वत या उच्छेद रूप में ग्रहण करना अन्तग्राहदृष्टि है ।

मिथ्यादृष्टिः । यया मिथ्यादृष्ट्या हेतुं वापवदति फलं क्रियां वा सद्वा वस्तु नाशयति, सा सर्वदर्शनपापत्वान्मिथ्यादृष्टिरित्युच्यते ।

मिथ्यादृष्टि । जिस मिथ्या दर्शन से हेतु फल क्रिया और सद् वस्तु का ज्ञान नहीं होता है, उस सर्वदर्शन को विनष्ट करने वाली दृष्टि को मिथ्या दृष्टि कहते हैं ।

दृष्टिपरामर्शः पञ्चसूपादानस्कन्धेष्वग्रतो विशिष्टतः श्रेष्ठतः परमतश्च यद्दर्शनम् ।

पांच उपादान स्कन्धों को अग्र विशिष्ट श्रेष्ठ परम (परिशुद्ध) समझना दृष्टिपरामर्श है ।

शीलव्रतपरामर्शः पञ्चसूपादानस्कन्धेषु शुद्धितो मुक्तितो नैर्याणिकतश्च यद्दर्शनम्।

पांच उपादानस्कन्धों को शुद्ध मुक्तिदायक दुःख नाशक समझना शीलव्रतपरामर्श है।

विचिकित्सा कर्मफलसत्यरत्नेषु विमतिः। विविधा मतिर्विमतिः स्यान्नस्यादिति। प्रज्ञातश्चेयं जात्यन्तरमेवोक्ता।

विचिकित्सा कर्मफल, आर्यसत्य तथा त्रिरत्नों में विमति है। विविध मति का होना कि ये हैं या नहीं विमति है। प्रज्ञा से यह भिन्न जाति के रूप में कही गयी है।

उक्ताः षट्क्लेशास्तदनन्तरोद्दिष्टास्त्विदानीमुपक्लेशा वक्तव्या इत्यत आह—

—क्रोधोपनहने पुनः।

म्रक्षः प्रदाश ईर्ष्याथ मात्सर्यं सह मायया॥ १२॥

छः क्लेश कह दिये गये, इनके अनन्तर उदिष्ट होने के कारण उपक्लेश को कहना चाहिये, अतः कहा गया है—

'क्रोध, उपनाह, म्रक्ष, प्रदाश, इर्ष्या, मात्स्र्य, माया······'॥ १२॥

(१३)

शाठ्यं मदो विहिंसाऽह्रीरत्रपा स्त्यानमुद्धवः।
आश्रद्धयमथ कौसीद्यं प्रमादो मुषिता स्मृतिः॥ १३॥

(१३)

शाठ्य, मद, विहिंसा, अह्री, अत्रपा, स्त्यान उद्धव, अश्रद्धा, कौशीद्य, प्रमाद, स्मृतिभ्रष्टता॥ १३॥

(१४)

विक्षेपोऽसंप्रजन्यं च कौकृत्यं मिद्धमेव च।
वितर्कश्च विचारश्चेत्युपक्लेशा द्वये द्विधा॥ १४॥

(१४)

विक्षेप, असंप्रजन्य तथा कौकृत्य मिद्ध, वितर्क विचार—ये दोनों युग्म दो प्रकार के हैं॥ १४॥

तत्र क्रोधो वर्तमानमपकारमागम्य यश्चेतस आघातः। अयं चाघातस्वरूपत्वात्प्रतिघान्न भिद्यते। किंत्वस्य प्रतिघस्यावस्थाविशेषे प्रज्ञप्तत्वात्प्रतिघांशिकः। वर्तमानमपकारमागम्य यश्चेतस आघातः सत्त्वासत्त्वविषयो दण्डदानादि—संनिश्रयदानकर्मकश्च स क्रोध इति प्रज्ञप्यते।

वर्तमान अपकार के कारण जो चित्त में आघात होता है, उसे क्रोध कहते हैं। यह आघातस्वरूपी होने के कारण प्रतिघ से भिन्न नहीं है। किन्तु यह प्रतिघ की ही अवस्था विशेष होने के कारण प्रतिघांशिक है। वर्तमान अपकार के कारण जो सत्त्व या असत्त्व विषयक चित का आघात है, उसे क्रोध कहा जाता है, उसका कार्य दण्डदानादि को आश्रय प्रदान करना है।

उपनाहो वैरानुबन्धः। क्रोधादूर्ध्वं ममानेनेदमपकृतमित्यस्य वैरात्मकस्यानुशयस्यानुत्सर्गः प्रबन्धेन प्रवर्तनमुपनाहः। अयं चाक्षान्तिसंनिश्रयदानकर्मकः। अक्षान्तिरपकारामर्षणं प्रत्यपकारचिकीर्षा च। अयमपि क्रोधवत्—प्रद्वेषावस्थाविशेषे प्रज्ञप्यते। अतः प्रज्ञप्तिसन्नेव वेदितव्यः।

शत्रुता के नैरन्तर्य भाव को उपनाह कहते हैं। क्रोध के उपरान्त—इसने मेरा अपकार किया है, इस प्रकार के वैरात्मक भाव को न छोड़ना, उसको बनाये रहना उपनाह है। इसका कार्य अक्षान्ति को आश्रय देना है। अपकार का सहन न करना तथा पुनः अपकार करने की इच्छा करना अक्षान्ति है। यह भी क्रोध के समान द्वेष की अवस्थाविशेष के रूप में कहा गया है। अतः इसकी प्रज्ञप्तिरूप सत्ता समझनी चाहिए।

म्रक्ष आत्मनोऽवद्यप्रच्छादना। छन्दद्वेषभयादीन्निराकृत्य काले तद्धितैषिणा चोदकेन तत् त्वमेवं कारीत्यनुयुक्तस्य मोहांशिक्यवद्यप्रच्छादना म्रक्षः। मोहांशिकत्वं तु म्रक्षस्य प्रच्छादनाकारत्वात्। अयं च कौकृत्यास्पर्शसंनिश्रयदानकर्मकः। धर्मतैषा यदवद्यं प्रच्छादयतःकौकृत्यमुत्पद्यते। कौकृत्याच्चावश्यं दौर्मनस्येन संप्रयोगादस्पर्शविहार इति।

म्रक्ष अपने पाप को छिपाने को कहते हैं। छन्द द्वेष भय आदि को हटाकर समय पर उसके हितैषियों के द्वारा "तुमने क्या ऐसा किया था"—ऐसा प्रश्न किये जाने पर पाप को छिपाना म्रक्ष है, जो मोह का अंश है। मोह का अंश इसलिए है कि इसमें छिपाने की क्रिया होती है। यह कौकृत्य जनित अस्पर्श (दुख) को आश्रय देने वाला होता है। यह स्वाभाविक है कि पाप को छिपाने वाले को कौकृत्य उत्पन्न होता है। कौकृत्य के कारण अवश्य दौर्मनस्य से सम्प्रयोग होने के कारण अस्पर्श विहार होता है।

प्रदाशश्चण्डवचोदाशिता। चण्डं वचः प्रगाढं पारुष्यम्। मर्मघट्टनयोगेन दशनशीलो दाशी तद्भावो दाशिता। अयं च भावप्रत्ययः स्वार्थिकः। चण्डेन वचसा प्रदशतीति चण्डवचोदाशिता। अयं च क्रोधोपनाहपूर्वकश्चेतस आघातस्वभाव इति प्रतिघांशिक एव न द्रव्यतो भिद्यते। अयं च वाग्दुश्चरितप्रसवकर्मकः, अस्पर्शविहारकर्मकश्च। तद्वतः पुद्गलस्य दुःखसंवासत्वात्।

प्रदाश कठोर वचन द्वारा दूसरे को कष्ट देने को कहते हैं। चण्डवचन का अर्थ है, अत्यन्त कठोर वचन। मर्म को कष्ट देने के योग से जो हिंसाशील है, वही दाशी है, उसका जो भाव है वह दाशिता है। यह भाव प्रत्यय स्वार्थिक है। चण्डवचन के द्वारा जो हिंसा करना है, वही चण्डवचोदाशिता है। यह क्रोध और वैर पूर्वक चित्त का आघात स्वभाववाला है। इसलिए यह प्रतिघ का ही अंश है। उससे वस्तुतः भिन्न नहीं है। यह वाणी के दुश्चरित को उत्पन्न करने वाला तथा अस्पर्श विहार करने वाला है। वह जिसको होता है उसका दूसरों के साथ रहना कष्टदायक होता है।

ईर्ष्या परसंपत्तौ चेतसो व्यारोषः। लाभसत्काराध्यवसितस्य लाभसत्कारकुलशीलश्रुतादीन्गुणविशेषान् परस्योपलभ्य द्वेषांशिकोऽमर्षकृतश्चेतसो व्यारोष ईर्ष्या। स्वमाश्रयं व्याप्य रोषो व्यारोषः। दौर्मनस्यसंप्रयोगात्तत्पूर्वकश्चास्पर्शविहार इति दौर्मनस्यास्पर्शविहारकर्मिकोच्यते।

दूसरों की सम्पत्ति के प्रति जो चित्त का व्यारोष अर्थात् क्रोध है, उसे ईर्ष्या कहते हैं। लाभसत्कारप्राप्ति की इच्छा वाले मनुष्य के चित्त में दूसरों के अपने से अधिक लाभ, सत्कार, कुल, शील, श्रुत आदि को देख कर द्वेषांशिक अमर्ष के कारण जो क्रोध उत्पन्न होता है, वह ईर्ष्या है। अपने आश्रय को व्याप्त करने वाले क्रोध को व्यारोष कहते हैं। दौर्मनस्य के संयोग के कारण अस्पर्श विहार होता है, अतः उसे दौर्मनस्यजनित अस्पर्शविहार क्रिया वाली कहते हैं।

मात्सर्यं दानविरोधी चेतस आग्रहः। उपात्तं वस्तु धर्मामिषकौशलात्मकं, येन पूजानुग्रहकाम्यययार्थिने वा दीयते तद् दानम्। तस्मिन्सति दानाभावात्तद्विरोधीत्युच्यते।

दानविरोधी चित्त के आग्रह को मात्सर्य कहते हैं। ग्रहण किया हुआ पदार्थ धर्मरूप, आमिषरूप तथा कौशलात्मक होता है, जिसके द्वारा पूजा या कृपा की इच्छा से चाहने वाले के लिए या न चाहने वाले के लिए जो दिया

जाता है, वह दान है। मात्सर्य के होने से दान कर्म का अभाव देखे जाने के कारण वह दानविरोधी कहलाता है।

लाभसत्काराध्यवसितस्य जीवितोपकरणेषु रागांशिकश्चेतस आग्रहोऽपरित्यागेच्छा मात्सर्यम्। इदं चासंलेखसंनिश्रयदानकर्मकम्। असंलेखः पुनर्मात्सर्येणानुपयुज्यमानानामप्युपकरणानां संचयाद्वेदितव्यः।

लाभसत्कार की इच्छा वाले मनुष्य को जीवनोपयोगी सामग्रियों में आसक्तिपूर्ण चित्त का आग्रह अर्थात् अपरित्याग की जो इच्छा है, उसे मात्सर्य कहते हैं। यह असंलेख को आश्रय प्रदान करता है। मात्सर्य के कारण भोग में न लाये हुए पदार्थों के संचय की प्रवृत्ति को असंलेख कहते हैं।

माया परवञ्चना याभूतार्थसंदर्शनता। लाभसत्काराध्यवसितस्य परवञ्चनाभिप्रायेणान्यथावस्थितस्य शीलादेरर्थस्यान्यथा प्रकाशना। इयं च सहिताभ्यां रागमोहाभ्यामभूतान्गुणान्प्रकाशयतस्तयोः समुदितयोः प्रज्ञप्यत इति। क्रोधादिवत्प्रज्ञप्तित एव न द्रव्यत इति। मिथ्याजीवसंनिश्रयदानकर्मिका।

दूसरों को ठगना अर्थात् जो पदार्थ नहीं हो उसको दिखलाने को माया कहते हैं। लाभ सत्कार की इच्छावाले मनुष्य का, दूसरों के ठगने के अभिप्राय से अन्यथा स्थित शील आदि वस्तुओं का अन्यथा प्रकाशन माया है। राग मोह दोनों के मेल से मिथ्या गुणों को प्रकाशित करने के कारण उन दोनों के समुदाय का यह नामान्तर है। क्रोधादि के समान इसका अस्तित्व प्रज्ञप्तिरूप ही है, द्रव्यरूप नहीं। यह मिथ्याजीव को आश्रय प्रदान करती है।

शाठ्यं स्वदोषप्रच्छादनोपायसंगृहीतं चेतसः कौटिल्यम्। स्वदोषप्रच्छादनोपायः परव्यामोहनम्। तत्पुनरन्येनान्यत्प्रतिसरन्विक्षिपति। अपरिस्फुटं वा प्रतिपद्यते। अत एव शाठ्यं म्रक्षाद्भिद्यते। स हि स्फुटमेव प्रच्छादयति न काका। इदमपि लाभसत्काराध्यवसितोपायाभ्यां रागमोहाभ्यां स्वदोषप्रच्छादनार्थं परव्यामोहनाय प्रवर्तते। तयोरेव सहितयोः प्रज्ञप्यते। इदं च सम्यगववादलाभपरिपन्थिकर्मकम्। सम्यगववादस्य यो लाभो योनिशोमनसिकारस्तस्यान्तरायं करोति।

अपने दोष को छिपाने के उपाय से संगृहीत चित्त की कुटिलता को शाठ्य कहते हैं। अपने दोष को छिपाने के उपाय का अर्थ है, दूसरों को धोखा देना। दूसरे पदार्थ से दूसरे को बतलाते हुए वह विक्षेप उत्पन्न करता है। इसके कारण स्पष्ट ज्ञान नहीं होता है। अतः शाठ्य म्रक्ष से भिन्न है। वह

तो स्पष्ट ही छिपा देता है, अस्पष्ट नहीं। यह भी लाभसत्कार की इच्छा की उत्पत्ति के कारण राग और मोह से अपने दोष को छिपाने के लिए तथा दूसरों को वञ्चित करने के लिए प्रवृत्त होता है। उन्हीं दोनों के समुदाय का यह नामान्तर है। यह सम्यक् ज्ञान पूर्वक होने वाले (कार्य कारणभाव पूर्वक) विचार का विरोधी है। सम्यक् ज्ञान का लाभ जो योनिशः मनसिकार अर्थात् यथार्थ चिन्तन है, उसमें यह विघ्न उत्पन्न करता है।

मदः स्वसंपत्तौ रक्तस्योद्धर्षश्चेतसः पर्यादानम्। कुलारोग्ययौवनबलरूपैश्वर्यबुद्धिमेधाप्रकर्षः स्वसंपत्तिः। उद्धर्षो हर्षविशेषः। येन हर्षविशेषेण चित्तमस्वतन्त्रीक्रियते तेन तदात्मतन्त्रीकरणात्पर्यात्तं भवतीत्येतदुक्तं चेतसः पर्यादानमिति। अयं च सर्वक्लेशोपक्लेशसंनिश्रयदानकर्मकः।

अपनी सम्पत्ति में अनुरक्त रागयुक्त पुरुष के चित्त का जो अति हर्ष या प्रफुल्लता है, उसे मद कहते हैं। कुल, आरोग्य, यौवन, वल, रूप, ऐश्वर्य, बुद्धि, तथा मेधा की जो विशेषता (प्रकर्ष) है, उसे स्वसम्पत्ति कहते हैं। उद्धर्ष का अर्थ है विशेष हर्ष। जिस हर्ष विशेष से चित्त अपने अधीन नहीं रहता है तथा उस हर्ष के द्वारा यह चित्त उसके वश में कर लिया जाता है, इसी को कहते हैं कि वह चित्त हर्ष से पर्यात्त हो जाता है, यही चित्त का परियादान है। यह सभी क्लेशों एवं उपक्लेशों का आश्रय देने वाला होता है।

विहिंसा सत्त्वविहेठना। त्रिविधैर्वधबन्धनताडनतर्जनादिभिः सत्त्वानां हिंसा विहिंसा। विहेठ्यन्तेऽनया सत्त्वा वधबन्धनादिभिर्दुःखदौर्मनस्योत्पादनादिति सर्वसत्त्वविहेठना। सा पुनः प्रतिघांशिकी निर्घृणता सत्त्वेषु चित्तरूक्षता सत्त्वविहेठनकर्मिका विहिंसेत्युच्यते।

विहिंसा का अर्थ होता है, प्राणियों को कष्ट देना। अनेक प्रकार के वध, बन्धन, ताड़न, तर्जन आदि से जो प्राणियों की हिंसा है, वही विहिंसा है। वध बन्धन आदि के द्वारा दुःख और दौर्मनस्य की उत्पत्ति कराने से इसके द्वारा सभी प्राणियों को कष्ट पहुँचता है, इसलिए इस हिंसा को सर्व सत्त्व विहेठना कहा जाता है। यह प्रतिघ का अंशरूप निर्दयता है, सत्त्वों के प्रति चित्त की रूक्षता है जो सत्त्वों को विहेठन करने के कारण विहिंसा कहलाती है।

आह्रीक्यं स्वयमवद्येनालज्जा। तस्मिन्कर्मण्यात्मानमयोग्यं मन्यमानस्यापि यावद्येनालज्जा साह्रीक्यं ह्रीविपक्षभूतम्।

आह्रीक्य का अर्थ है पाप में स्वयं लज्जित न होना। उस कर्म को करने

में अपने आपको अयोग्य मानते हुए भी जो पाप से लज्जित नहीं होता है, वही आह्रीक्य है जो ह्री का विरोधी है।

अनपत्राप्यं परतोऽवद्येनालज्जा। लोकशास्त्रविरुद्धमेतन्मया क्रियत इत्येवमवगच्छतोऽपि या तया पापक्रिययाऽलज्जा सापत्राप्यविपक्षभूतमनपत्राप्यम्। एतच्च द्वयमपि सर्वक्लेशोपक्लेशसाहाय्यकर्मकम्। रागद्वेषमोहप्रकारेषु सर्वासत्कार्यप्रभवहेतुषु रागद्वेषयोरयौगपद्याद्यथासंभवं प्रज्ञप्यते न तु स्वतन्त्रमस्ति।

दूसरों के कारण पाप से लज्जित न होना अनपत्राप्य है। मैंने यह काम लोक और शास्त्र के विरुद्ध किया है, ऐसा जानते हुए भी जो पाप कर्म से लज्जित नहीं होता है, वही अनपत्राप्य हैं, जो अपत्राप्य का विपक्षी है। ये दोनों क्लेश एवं उपक्लेशों के सहायक हैं। राग द्वेष और मोह के विविध प्रकारों में जो सभी असत्कार्यों का जो हेतु है, राग द्वेष एक साथ नहीं हो सकते हैं, अतः यथासंभव राग द्वेष मोह के अन्तर्गत इसे समझना चाहिए, स्वतन्त्ररूप में नहीं।

स्त्यानं चित्तस्याकर्मण्यता स्तैमित्यम्। स्तिमितस्य भावः स्तैमित्यं यद्योगाच्चित्तं जडीभवति स्तिमितं भवति नालम्बनं प्रतिपत्तुं समुत्सहते। एतच्च सर्वक्लेशोपक्लेशसाहाय्यदानकर्मकम्। मोहांशे प्रज्ञप्तत्वाच्च मोहांशिकमेव न पृथग्विद्यते।

चित्त की अकर्मण्यता अर्थात् स्तिमितभाव को स्त्यान कहते हैं। स्तिमित के भाव को स्तैमित्य कहते हैं जिसके योग से चित्त जड़ तथा स्तिमित हो जाता है एवं आलम्बन को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होता है। यह सभी क्लेशों एवं उपक्लेशों को सहायता देता है। मोह के अंश के रूप में प्रज्ञप्त होने के कारण, यह मोहांशिक है, पृथक् नहीं।

औद्धत्यं चित्तस्याव्युपशमः। व्युपशमो हि शमथस्तद्विरुद्धोऽव्युपशमः। स पुनरेष रागानुकूलपूर्वहसित[1]रमितक्रीडिताद्यनुस्मरतश्चेतसोऽव्युपशमहेतुः शमथपरिपन्थिकर्मकः।

चित्त में व्युपशम (शान्ति) के अभाव को औद्धत्य कहते हैं। व्युपशम का अर्थ शमथ है, अव्युपशाम उसका विरोधी है। यह राग के अनुकूल पहले के हास्य क्रीड़ा आदि को स्मरण करते हुए चित्त में अशान्ति के कारण रूप उत्पन्न होता है, जो शमथ अर्थात् शान्ति का विरोधी है।

---

१. A. रसित.

आश्रद्धयं कर्मफलसत्यरत्नेष्वनभिसंप्रत्ययः श्रद्धाविपक्षः । श्रद्धा ह्यस्तित्वगुणवत्त्वशक्यत्वेष्वभिसंप्रत्ययः प्रसादोऽभिलाषश्च यथाक्रमम् । अश्रद्धा तद्विपर्ययेणास्तित्वगुणवत्वशक्यत्वेष्वनभिसंप्रत्ययोऽप्रसादोऽनभिलाषश्च । कौसीद्यसंनिश्रयदानकर्मकम् । अश्रद्दधानस्य प्रयोगच्छन्दाभावात्कौसीद्यसंनिश्रयदानकर्मकत्वम् ।

कर्मफल सत्य एवं रत्नों में अविश्वास को आश्रद्धय कहते हैं, जो श्रद्धा का विपक्षी है। अस्तित्व, गुणवत्त्व, शक्यत्व में क्रमशः विश्वास प्रसाद तथा अभिलाष को श्रद्धा कहते हैं। उसके विपरीत अस्तित्व, गुणवत्त्व तथा शक्यत्व में क्रमशः अविश्वास, अप्रसाद तथा अनभिलाप को अश्रद्धा कहते हैं। यह कौसीद्य को आश्रय देती है। जिसको श्रद्धा नहीं होती है, उसको प्रयोग की इच्छा नहीं होती है, इस दृष्टि से इसे कौसीद्य का आश्रय प्रदान करने वाली कहा गया है।

कौसीद्यं कुशले चेतसोऽनभ्युत्साहो वीर्यविपक्षः । कुशले कायवाङ्मनःकर्मणि निद्रापार्श्वशयनसुखमागम्य यो मोहांशिकश्चेतसोऽनभ्युत्साहः । एतच्च कुशलपक्षप्रयोगपरिपन्थिकर्मकम् ।

कौसीद्य कुशल कर्म में अनुत्साह का नाम है, जो वीर्य का विपक्षी है। शरीर, वाणी और मन से होने वाले कुशल कर्म में निद्रा तथा शयन सुख को प्राप्त करके जो मोहजनित चित्त का अनुत्साह है, वही कौशीद्य है। यह कुशलपक्ष के प्रयोग का विरोध करने वाला है।

प्रमादो यैर्लोभद्वेषमोहकौसीद्यैः क्लेशाद्रागद्वेषमोहादिकाच्चित्तं न रक्षति कुशलं च तत्प्रतिपक्षभूतं न भावयति । तेषु लोभद्वेषमोहकौसीद्येषु प्रमादः प्रज्ञप्यते । अयं चाकुशलवृद्धिकुशलपरिहाणिसंनिश्रयदानकर्मकः ।

जिन लोभ, द्वेष, मोह और कौसीद्य के कारण मनुष्य रागद्वेषादि क्लेशों से अपने चित्त की रक्षा नहीं करता है तथा उनके प्रतिपक्षभूत कुशल की भावना नहीं करता है, उसे प्रमाद कहते हैं। उन लोभ द्वेष मोह तथा कौसीद्य में प्रमाद का कथन होता है। यह अकुशल वृद्धि तथा कुशल हानि को आश्रय प्रदान करता है।

मुपिता स्मृतिः क्लिष्टा स्मृतिः । क्लिष्टेति क्लेशसंप्रयुक्ता । इयं च विक्षेपसंनिश्रयदानकर्मिका ।

मुपित स्मृति क्लिष्ट स्मृति का नाम है। क्लिष्ट का अर्थ है क्लेश से युक्त। यह विक्षेप को आश्रय प्रदान करती है।

विक्षेपो रागद्वेषमोहांशिकश्चेतसो विसारः । विविधं क्षिप्यतेऽनेन चित्तमिति विक्षेपः । यै रागद्वेषमोहैश्चित्तं समाध्यालम्बनाद्बहिः क्षिप्यते तेषु यथासंभवं विक्षेपः प्रज्ञप्यते । एष च वैराग्यपरिपन्थिकमेकः ।

रागद्वेष और मोह के कारण चित्त का विविध विषयों में जाना विक्षेप कहलाता है । जिसके द्वारा चित्त विविध विषयों में फेंका जाता है, उसे विक्षेप कहते हैं । जिन राग द्वेष मोह द्वारा चित्त समाधि के आलम्बन से बाहर फेंक दिया जाता है, उन्हीं में यथा संभव विक्षेप शब्द का व्यवहार होता है । यह वैराग्य का विरोधी है ।

असंप्रजन्यं क्लेशसंप्रयुक्ता प्रज्ञा । यया संविदिता कायवाक्चित्तचर्या अतिक्रमप्रक्रमादिषु वर्तते करणीयाकरणीयाज्ञानात् । एतच्चापत्तिसंनिश्रयदानकर्मकम् ।

क्लेशयुक्त प्रज्ञा को असंप्रजन्य कहते हैं । जिसके द्वारा जानी हुई शरीर वाणी और चित्त की क्रिया अतिक्रम प्रक्रम आदि में प्रवृत्त होती है क्योंकि उससे कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान नहीं होता है । यह आपत्ति को आश्रय प्रदान करने वाला है ।

कौकृत्यं चेतसो विप्रतिसारः । कुत्सितं कृतमिति कुकृतम् । तद्भावः कौकृत्यम् । इह तु कुकृतविषयश्चेतसो विलेखः कौकृत्यं चैतसिकाधिकारात् । एतच्च चित्तस्थितिपरिपन्थिकर्मकम् ।

चित्त के विप्रतिसार को कौकृत्य कहते हैं । कुत्सित कर्म कुकृत्य है । उसका भाव कौकृत्य है । यहाँ कुकृत्य विषयक चित्त का जो आग्रह है, वही कौकृत्य समझा गया है क्योंकि यहाँ चेतसिक का प्रकरण है । यह चित्त की एकाग्रता का विरोधी है ।

मिद्धमस्वतन्त्रवृत्तिचेतसोऽभिसंक्षेपः । वृत्तिरालम्बने प्रवृत्तिः । साऽस्वतन्त्रा चेतसो यतो भवति तन्मिद्धम् । कायचित्तसंधारणासमर्था वा वृत्तिश्चेतसोऽस्वतन्त्रता सा यतो भवति तन्मिद्धम् । अभिसंक्षेपश्चेतसश्चक्षुरादीन्द्रियद्वारेणाप्रवृत्तिः । एतच्च मोहांशे प्रज्ञपनान्मोहांशिकं कृत्यातिपत्तिसंनिश्रयदानकर्मकं च ।

अस्वतन्त्रवृत्तिचित्त के संकोच को मिद्ध कहते हैं । वृत्ति का अर्थ है आलम्बन में प्रवृत्ति । वह चित्त की प्रवृत्ति जिसके द्वारा अस्वतन्त्र हो जाती है, वही मिद्ध है । अथवा शरीर और चित्त को धारण करने में असमर्थ जो वृत्ति है, वही चित्त की अस्वतन्त्रता है, वह जिससे होती है वही मिद्ध है । चित्त

की चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा जो अप्रवृत्ति है, वही अभिसंक्षेप है। यह मोह के अंश में व्यवहृत होने से मोहांशिक तथा कर्त्तव्य की असिद्धि को आश्रय प्रदान करने वाला है।

वितर्कः पर्येषको मनोजल्पः प्रज्ञाचेतनाविशेषः। पर्येषकः किमेतदिति निरूपणाकारप्रवृत्तः। मनसो जल्पो मनोजल्पः। जल्प इव जल्पः। जल्पोऽर्थकथनम्। 'चेतनाप्रज्ञाविशेष इति', चेतनायाश्चित्तपरिस्पन्दात्मकत्वात्, प्रज्ञायाश्च गुणदोषविवेकाकारत्वात्तद्वशेन चित्तप्रवृत्तिः, कदाचिच्चित्तचेतनयोर्वितर्कप्रज्ञप्तिः। कदाचित्प्रज्ञाचेतसोर्यथाक्रममनभ्यूहाभ्यूहावस्थयोः। अथ वा चेतनाप्रज्ञयोरेव वितर्कप्रज्ञप्तिस्तद्वशेन चित्तस्य तथाप्रवृत्तत्वात्। स एव चित्तस्यौदारिकता। औदारिकतेति स्थूलता वस्तुमात्रपर्येषणाकारत्वात्। एष च नयो विचारेऽपि द्रष्टव्यः।

अनुसंधान करने वाली मानसिक क्रिया को वितर्क कहते हैं, जो प्रज्ञा तथा चेतना का विशेष गुण है। 'यह क्या है', इस प्रकार अनुसन्धान के आकार की प्रवृत्ति को पर्येषक कहते हैं। मन का जल्प (कथन) मनोजल्प है। जल्प जैसा होने के कारण जल्प है। जल्प का अर्थ किसी बात का कथन है। चेतना तथा प्रज्ञा का विशेष गुण है क्योंकि चेतना चित्तपरिस्पन्दात्मक है तथा प्रज्ञा गुण दोष विवेकात्मक है, उसके कारण चित्त की प्रवृत्ति होती है। कभी कभी चित्त तथा चेतना के लिए वितर्क शब्द का प्रयोग होता है तथा कभी प्रज्ञा तथा चित्त के लिए, क्रमशः अनभ्यूह तथा अभ्यूह अवस्था में (अर्थात अनभ्यूह अवस्था में चित्त और चेतना के लिए तथा अभ्यूह अवस्था में प्रज्ञा तथा चित्त के लिए)। अथवा चेतना और प्रज्ञा में ही वितर्क शब्द का व्यवहार है क्योंकि उसी के कारण चित्त की वैसी प्रवृत्ति होती है। वही चित्त की औदौरिकता है। औदारिकता का अर्थ स्थूलता है क्योंकि उसमें वस्तु मात्र के अनुसन्धान का आकार रहता है। इसी न्याय से विचार के अन्तर्गत भी समझना चाहिए।

विचारोऽपि हि चेतनाप्रज्ञाविशेषात्मकः प्रत्यवेक्षको मनोजल्प एव। इदं तदिति पूर्वाधिगतनिरूपणात्। अत एव च चित्तसूक्ष्मतेत्युच्यते। एतौ च स्पर्शास्पर्शविहारसंनिश्रयदानकर्मकौ। अनयोश्चौदारिकसूक्ष्मतया व्यवस्थापनात्पृथक्करणम्।

विचार भी प्रज्ञाचेतनाविशेषात्मक प्रत्यवेक्षक मनोजल्प ही है। क्योंकि 'यह वही है' (ऐसा) पूर्व ज्ञात वस्तु का (इसमें) निश्चय होता है। इसलिए वह चित्त की सूक्ष्मता कहलाता है। ये दोनों (वितर्क विचार) स्पर्श विहार

तथा अस्पर्श विहार का आश्रय प्रदान करने वाले हैं। इन दोनों का औदारिक और सूक्ष्म रूप में पार्थक्य है।

द्वये द्विधेति। द्वयं च द्वयं च द्वये। ते पुनः कौकृत्यमिद्धे वितर्कविचारौ च। एते च चत्वारो धर्मा द्विधा क्लिष्टा अक्लिष्टाश्च। तत्राकुशलमकृत्वा कुशलं च कृत्वा यश्चेतसो विलेखस्तत्संक्लिष्टं कौकृत्यम्। यत्कुशलमकृत्वा तत्कौकृत्यमक्लिष्टम्। मिद्धमपि क्लिष्टचित्ताविद्धं क्लिष्टचित्तसंप्रयुक्तं च क्लिष्टम्। अक्लिष्टचित्ताविद्धमक्लिष्टचित्तसंप्रयुक्तं चाक्लिष्टम्। कामव्यापादविहिंसादिवितर्काः क्लिष्टाः। नैष्कर्म्यादिवितर्का अक्लिष्टाः। एवं परोपघातोपायविचारः क्लिष्टः। परानुग्रहोपायविचारोऽक्लिष्टः। तत्र ये कौकृत्यमिद्धवितर्कविचाराः क्लिष्टाः त एवोपक्लेशा नेतरे।

दोनों युगल दो प्रकार के हैं। (उपर्युक्त) दो दो का अर्थ है चार। वे हैं—कौकृत्य, मिद्ध, वितर्क और विचार। ये चारो धर्म दो दो प्रकार के हैं—क्लिष्ट एवं अक्लिष्ट। उनमें अकुशल कर्म को न करके तथा कुशल कर्म को करके जो चित्त का विलेख (विषाद) है वह संक्लिष्ट कौकृत्य है। कुशल कर्म को न करके जो चित्त का विलेख है वह अक्लिष्ट कौकृत्य है। मिद्ध भी जो क्लिष्टचित्ताविद्ध तथा क्लिष्टचित्त सम्प्रयुक्त है, उसे क्लिष्ट कहते हैं। अक्लिष्ट चित्ताविद्ध तथा अक्लिष्टचित्त सम्प्रयुक्त (मिद्ध) अक्लिष्ट है। काम व्यापाद विहिंसादि के वितर्क क्लिष्ट हैं। नैष्कर्म्य आदि के वितर्क अक्लिष्ट हैं। इसी प्रकार दूसरों की विहिंसा के उपाय का विचार क्लिष्ट है तथा दूसरों के अनुग्रह के उपाय का विचार अक्लिष्ट है। उनमें जो क्लिष्ट कौकृत्य, मिद्ध, वितर्क और विचार हैं-वे ही उपक्लेश हैं, दूसरे नहीं।

तत्र यथा रूपशब्दाद्युपलब्धिः षट्प्रकारा यथासंभवं सर्वचैतसिकैः संप्रयुज्यते, सर्वत्रगैर्विनियतैः कुशलैः क्लेशैरुपक्लेशैश्च, एवं त्रिवेदना तिसृभिश्च वेदनाभिः संप्रयुज्यते सुखया दुःखया अदुःखासुखया च। सौमनस्यदौर्मनस्योपेक्षास्थानीयेषु रूपादिषु तदुत्पत्तेः कुशला अकुशला अव्याकृता च। आलयविज्ञानं तु सर्वत्रगैः पञ्चभिरेव संप्रयुज्यते नान्यैस्तत्र चोपेक्षैव वेदना अनिवृताव्याकृतं च। क्लिष्टं मनः सर्वत्रगैः पञ्चभिश्चतुर्भिश्च क्लेशैरात्ममोहादिभिः। तत्रोपेक्षैव वेदना निवृताव्याकृतं चेति।

उनमें (यथा) रूपशब्दादि की छ प्रकार की उपलब्धियां यथासंभव सभी चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होती हैं, अर्थात् सर्वत्रग विनियत कुशल क्लेश तथा

उपक्लेशों के साथ, उसी प्रकार वे त्रिवेदना कही गयी है, क्योंकि वे तीन वेदनाओं के साथ सम्प्रयुक्त होती हैं—सुख दुःख तथा उपेक्षा के साथ। सौमनस्यस्थानीय, दौर्मनस्यस्थानीय तथा उपेक्षास्थानीय रूपादि में उनकी उत्पत्ति होने से वे उपलब्धियां कुशल अकुशल तथा अव्याकृत हैं। आलय विज्ञान सर्वत्रग पांच चैतसिकों से ही सम्प्रयुक्त होता है अन्यों से नहीं तथा वहां उपेक्षा वेदना ही रहती है तथा वह अनिवृताव्याकृत ही। क्लिष्टमन सर्वत्रग पांच चैतसिकों से तथा चार आत्ममोहादि क्लेशों से सम्प्रयुक्त होता है। उसमें उपेक्षा वेदना ही है और वह निवृताव्याकृत है।

इदमिदानीं चिन्त्यते। किं पञ्चानां चक्षुर्विज्ञानादीनां युगपदालम्बनप्रत्ययसांनिध्येऽप्यालयविज्ञानादेकस्यैवोत्पत्तिर्भवति न द्वयोर्न बहूनां वा? यथैके मन्यन्ते 'न द्वयोर्न बहूनां वा युगपत्समनन्तरप्रत्ययाभावादेकस्यैव विज्ञानस्योत्पत्तिर्भवति। न चैकं विज्ञानं बहूनां समनन्तरप्रत्ययत्वं प्रतिपत्तुमुत्सहते'। उतानियमेन?

अब यहां विचार किया जाता है। क्या चक्षुविज्ञानादि पांचों विज्ञानों के आलम्बन और कारणों के एक साथ विद्यमान रहने पर भी आलयविज्ञान से एक साथ एक ही विज्ञान की उत्पत्ति होती है, दो या बहुतों की नहीं? जैसा कुछ लोग मानते हैं—'दो या बहुत के समनन्तर प्रत्यय के एक साथ न होने के कारण एक ही विज्ञान की उत्पत्ति होती है। एक ही विज्ञान बहुतों का समनन्तरप्रत्यय एक साथ नहीं बन सकता है। अथवा अनियम से?

यद्येकस्यैव प्रत्ययसांनिध्यमेकमेवोत्पद्यते, एवं द्वयोर्बहूनां च प्रत्ययसांनिध्ये उत्पत्तिर्भवतीत्यत आह।

जिस प्रकार एक विज्ञान के कारण के सन्निहित होने पर एक ही विज्ञान उत्पन्न होता है उसी प्रकार कारणों के सन्निहित होने पर दो या बहुतों की भी उत्पत्ति हो सकती है, इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहा गया है—

(१५)

पञ्चानां मूलविज्ञाने यथाप्रत्ययमुद्भवः।
विज्ञानानां सह न वा तरङ्गाणां यथा जले ॥ १५ ॥

(१५)

'मूल विज्ञान में कारणों के सानिद्धयक होने से पांचो विज्ञानों की एक साथ उत्पत्ति हो सकती है और पृथक् पृथक् भी, यथा जल में तरंगों की' ॥ १५ ॥

पञ्चानामिति चक्षुरादिविज्ञानानां तदनुचरमनोविज्ञानसहितानाम्। पञ्चानां चक्षुरादिविज्ञानानां बीजाश्रयत्वात्तत उत्पत्तेर्गतिषु जन्मोपादानाच्चालयविज्ञानं मूलविज्ञानमित्युच्यते।

पांचो का अर्थ है चक्षुविज्ञानादि विज्ञानों का तथा उसके अनुचर मनोविज्ञान के सहित। चक्षुविज्ञानादि पांचों विज्ञानों का बीज एवं आश्रय होने से तथा उत्पत्ति उसी से उनकी होने से तथा विविध गतियों में जन्म का उपादान कारण होने से आलयविज्ञान मूल विज्ञान कहलाता है।

'यथाप्रत्ययमुद्भव' इति, यस्य यस्य यः प्रत्ययः संनिहितस्तस्य तस्य नियमेनोद्भव आत्मलाभः। सह न वेति, युगपत्क्रमेण वा। तरङ्गाणां यथा जल इति, आलयविज्ञानात्—प्रवृत्तिविज्ञानानां युगपदयुगपच्चोत्पत्तौ दृष्टान्तः। यथोक्तम्। तद्यथा विशालमते, महत उदकौघस्य वहतः सचेदेकस्य तरङ्गस्योत्पत्तिप्रत्ययः प्रत्युपस्थितो भवत्येकमेव तरङ्गं प्रवर्तते। सचेद्द्वयोस्त्रयाणां संबहुलानां तरङ्गाणामुत्पत्तिप्रत्ययः प्रत्युपस्थितो भवति। यावत्संबहुलानि तरङ्गाणि प्रवर्तन्ते। न च तस्योदकौघस्य स्रोतसा वहतः समुच्छित्तिर्भवति। न पर्युपयोगः प्रज्ञायते। एवमेव विशालमते, तदोघस्थानीयमालयविज्ञानं संनिश्रित्य प्रतिष्ठाय सचेदेकस्य [1]चक्षुर्विज्ञानस्योत्पत्तिप्रत्ययः प्रत्युपस्थितो भवति, एकमेव चक्षुर्विज्ञानं प्रवर्तते। सचेद्द्वयोस्त्रयाणां सचेत्पञ्चानां विज्ञानानामुत्पत्तिप्रत्ययः प्रत्युपस्थितो भवति, सकृद्यावत्पञ्चानां प्रवृत्तिर्भवति। अत्र गाथा—

'यथा प्रत्यय समुद्भव' का अर्थ है—जिसके जिसके कारण के सानिध्य से उसकी उसकी नियमतः उत्पत्ति। 'सह न वेति' का अभिप्राय यह है कि—एक साथ भी तथा क्रम से भी। जैसे जल में तरंगों की उत्पत्ति होती है, (उसी प्रकार) आलयविज्ञान से प्रवृत्ति विज्ञानों की युगपत् या अयुगपत् उत्पत्ति होने का यह दृष्टान्त है। जैसे कहा गया है। यथा हे विशालमते, जल के बहुत बड़े प्रवाह में एक तरंग का कारण उपस्थित रहने पर एक ही तरंग उत्पन्न होता है। दो या तीन या बहुत से तरंगों की उत्पत्ति के कारण यदि उपस्थित हों तो बहुत से तरंग उत्पन्न होते हैं। उस जल के प्रवाह का कभी समुच्छेद नहीं होता है। न उसकी समाप्ति होती है। उसी प्रकार हे विशालमते, उस प्रवाह के समान आलयविज्ञान के आश्रय से यदि एक चक्षु विज्ञान की उत्पत्ति का कारण उपस्थित रहता है तो एक ही

---

१. C. adds।

चक्षुविज्ञान प्रवृत्त होता है। यदि दो तीन या पांचों विज्ञानों की उत्पत्ति के कारण विद्यमान रहते हैं तो एक साथ पांचों विज्ञानों की उत्पत्ति होती है। इस विषय में गाथा है—

आदानविज्ञानगभीरसूक्ष्मो ओघो यथा वर्तति सर्वबीजो।
बाला एषामपि [1]न प्रकाशिते[2] मोहैव[3] आत्मा परिकल्पयेयुः ।। इति।

'यह आलयविज्ञान गंभीर एवं सूक्ष्म है, जल के प्रवाह के समान है तथा सभी विज्ञानों का बीज है। अज्ञानी लोग उसे न समझकर मोहवश आत्मा की कल्पना करते हैं'।

न हि विज्ञानप्रतिनियमेनालम्बनप्रत्ययवत्समनन्तरप्रत्यय इष्यते। सर्वविज्ञानोत्पत्तौ सर्वस्य विज्ञानस्य तत्समनन्तरप्रत्ययत्वाभ्युपगमात्। अत एकस्मादपि समनन्तरप्रत्ययादालम्बनप्रत्ययसांनिध्ये द्वयोर्बहूनां च[4] विज्ञानानामुत्पत्तिर्न विरुध्यते। किं चात्र कारणं यत्समनन्तरप्रत्ययप्रतिनियमाभावे पञ्चानां च युगपदालम्बनप्रत्ययसांनिध्ये एकेनैवोत्पत्तव्यं न पञ्चभिरपीति ? तस्मादालम्बनसद्भावे पञ्चानामपि चोत्पत्तिरभ्युपेयम्।

आलम्बनप्रत्यय के समान समनन्तर प्रत्यय से एक ही विज्ञान उत्पन्न होता है, ऐसा मानना अभीष्ट नहीं है। सभी विज्ञानों की उत्पत्ति में सभी विज्ञान समनन्तरप्रत्यय के रूप में कारण माने गये हैं। अतः एक भी समनन्तरप्रत्यय से आलम्बन और कारणों के सन्निहित होने पर दो या बहुत से विज्ञानों की उत्पत्ति हो सकती है। इसमें क्या कारण है कि जब समनन्तरप्रत्यय का कोई नियम नहीं है और पांचों विज्ञानों का आलम्बन और कारण एक साथ उपस्थित हों तो एक ही विज्ञान उत्पन्न हो पांचों विज्ञान उत्पन्न न हों ? अतः आलम्बन के होने पर पांचों विज्ञानों की उत्पत्ति हो सकती है, ऐसा जानना चाहिए।

(१६)

इदमिदानीं वक्तव्यं किं मनोविज्ञानं चक्षुरादिविज्ञानैः सह प्रवर्तते विना वा उत नैव ? इत्यत आह—

(१६)

अब यहां यह बतलाना चाहिए—क्या मनोविज्ञान चक्षुविज्ञान आदि के साथ ही प्रवृत्त होता है या उसके बिना ही या होता ही नहीं ! अतः कहा गया है—

१. C. बालान एषो मयि। २. C. प्रकाशितो। ३. C. मा हैव।
४. C. व।

मनोविज्ञानसंभूतिः सर्वदासंज्ञिकादृते ।
समापत्तिद्वयान्मिद्धान्मूर्छनादप्यचित्तकात् ॥ १६ ॥

मनोविज्ञान की उत्पत्ति सर्वदा आसंज्ञिक, असांज्ञिकसमापत्ति, निरोधसमापत्ति, अचित्तकमिद्ध, और अचित्तकमूर्छा को छोड़कर चक्षु आदि विज्ञानों के साथ भी या पृथक् भी होती है ॥ १६ ॥

इति। सर्वदेति सर्वकालं, चक्षुरादिविज्ञानैः सह विना वेत्यर्थः। अस्योत्सर्गस्यापवादमारभते । 'आसंज्ञिकादृते । 'समापत्तिद्वयान्मिद्धान्मूर्छनादप्यचित्तकाद्' इति, तत्रासंज्ञिकमसंज्ञिसत्त्वेषु देवेषूपपन्नस्य यश्चित्तचैतसिकानां धर्माणां निरोधः । समापत्तिद्वयमसंज्ञिसमापत्तिर्निरोधसमापत्तिश्च ।

सर्वदा का अर्थ है सर्वकाल अर्थात् चक्षुविज्ञान आदि के साथ भी और उनके विना भी। इस सामान्य विधान के अपवाद को बतलाना आरम्भ किया जाता है। 'आसंज्ञिकादृते। समापत्तिद्वयान्मिद्धान्मूर्छनादप्यचित्तकाद्' इति (असंज्ञी, दो समापत्तियों, मिद्ध, चित्तरहितमूर्छा को छोड़ कर)। उनमें असांज्ञिक का अर्थ असंज्ञीसत्त्वों तथा देवताओं में उत्पन्न चित्त चैतसिक धर्मों का निरोध है। समापत्ति दो प्रकार की होती है—असांज्ञिकसमापत्ति और निरोधसमापत्ति।

तत्रासंज्ञिसमापत्तिस्तृतीयध्यानाद्वीतरागस्य [1]ऊर्ध्वमवीतरागस्य निःसरणसंज्ञापूर्वकेण मनसिकारेण मनोविज्ञानस्य तत्संप्रयुक्तानां च चैत्तानां यो निरोधः सोऽत्रासंज्ञिसमापत्तिरित्युच्यते। निरुध्यतेऽनेनेति निरोधः । स पुनः ससंप्रयोगस्य मनोविज्ञानस्य समुदाचारनिरोधः आश्रयस्यावस्थाविशेषः। स च समापत्तिचित्तादनन्तरं चित्तान्तरोत्पत्तिविरुद्ध आश्रयः प्राप्यत इति समापत्तिरित्युच्यते।

जो तृतीय ध्यान से वीतराग है तथा उसके ऊपर की अवस्था से अवीतराग है, ऐसे निःसरणसंज्ञापूर्वक मनसिकार के द्वारा जो मनोविज्ञान तथा उससे सम्प्रयुक्त चैत्यों का जो निरोध है, वह असंज्ञीसमापत्ति कही जाती है। इससे निरुद्ध होता है, अतः इसे निरोध कहते हैं। वह पुनः विषय सहित (ससंप्रयोग) मनोविज्ञान के कार्य (समुदाचार) का जो निरोध है, वह आश्रय अर्थात् आलयविज्ञान की एक अवस्थाविशेष है। समापत्ति अवस्था में व्याप्त चित्त के

---

१. A. नोर्ध्वं ।

अनन्तर अन्य चित्त के विरुद्ध आश्रय की प्राप्ति होने के कारण इसे समापत्ति कहते हैं।

निरोधसमापत्तिराकिंचन्यायतनवीतरागस्य शान्तिविहारसंज्ञापूर्वकेण मनसिकारेण ससंप्रयोगस्य मनोविज्ञानस्य क्लिष्टस्य च मनसो यो निरोधः। इयमप्यसंज्ञिसमापत्तिवदाश्रयस्यावस्थाविशेषे प्रज्ञप्यते।

जो आकिञ्चन्यायतन से वीतराग है, उसके शान्तविहारसंज्ञापूर्वक मनसिकार से विषयसहित मनोविज्ञान तथा क्लिष्ट मन के निरोध को निरोधसमापत्ति कहते हैं। यह भी असंज्ञीसमापत्ति के समान आश्रय अर्थात् आलयविज्ञान की अवस्था विशेष है।

अचित्तकं मिद्धं गाढमिद्धोपहतत्वादाश्रयस्य तावत्कालं मनोविज्ञानाप्रवृत्तेरचित्तकमित्युच्यते।

अचित्तकमिद्ध (के क्षण) आलय को गाढ़ आलस्य से उपहत होने के कारण (उसमें) उस समय तक मनोविज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है, अतः अचित्तकमिद्ध कहलाता है।

अचित्तिका मूर्च्छा। आगन्तुनाभिघातेन वातपित्तश्लेष्मवैषम्येण वा यदाश्रयवैषम्यं मनोविज्ञानप्रवृत्तिविरुद्धं, तत्राचित्तिका मूर्छोपचर्यते।

अचित्तक मूर्च्छा। आगन्तुक अभिघात, वात पित्त तथा कफ की विषमता से जो मनोविज्ञान की प्रवृत्ति के विरुद्ध आश्रय की विषमता है, उसी के लिए अचितक मूर्च्छा शब्द का व्यवहार होता है।

एताः पञ्चावस्था वर्जयित्वा तदन्यासु सर्वास्ववस्थासु मनोविज्ञानप्रवृत्तिर्वेदितव्या। एवमासंज्ञिकादिषु मनोविज्ञाने निरुद्धे तदपगमे पुनः कुत उत्पद्यते, यत्तस्य कालक्रिया न भवति? तत्पुनरालयविज्ञानादेवोत्पद्यते तद्धि सर्वविज्ञानबीजकमिति।

इन पांच अवस्थाओं को छोड़कर अन्य सभी अवस्थाओं में मनोविज्ञान की प्रवृत्ति जाननी चाहिए। इस प्रकार आसंज्ञिक आदि में मनोविज्ञान के निरुद्ध होने पर, उसके हट जाने पर वह पुनः उत्पन्न कहां से होता है जिससे उसका सर्वथा विनाश नहीं होता है’? वह आलयविज्ञान से उत्पन्न होता है क्योंकि वह सभी विज्ञानों का बीज है।

(१७)

यत्र विज्ञानपरिणामे आत्मधर्मोपचारः, स पुनस्त्रिधेत्युद्दिश्य विस्तरेण त्रिविधोऽपि निर्दिष्टः। इदानीमात्मधर्मोपचारो यः प्रज्ञप्यते स

विज्ञानपरिणाम एव, न विज्ञानपरिणामात् स पृथगस्त्यात्मा धर्मो वेति यत्प्रतिज्ञातं तत्प्रसाधनार्थमाह—

(१७)

जिस विज्ञान के परिणाम में आत्मा और धर्म का उपचार होता है, वह परिणाम तीन प्रकार का है, ऐसा उल्लेख करके उन तीनों प्रकारों का विस्तार से कथन कर दिया गया। अब—'आत्मा और धर्म का जो उपचार होता है वह विज्ञान परिणाम ही है, विज्ञान परिणाम से भिन्न आत्मा या धर्म का अस्तित्व नहीं है'—यह जो प्रतिज्ञा की थी उसको सिद्ध करने के लिए कहते हैं—

विज्ञानपरिणामोऽयं विकल्पो यद्विकल्प्यते ।
तेन तन्नास्ति तेनेदं सर्वं विज्ञप्तिमात्रकम् ॥ १७ ॥

'जो कुछ विकल्प किया जाता है, वह विज्ञान परिणाम ही है। अतः वे (बाह्य विषयादि) नहीं हैं सब कुछ विज्ञप्ति मात्र है' ॥ १७ ॥

इति। योऽयं विज्ञानपरिणामस्त्रिविधोऽनन्तरमभिहितः सोऽयं विकल्पः। अध्यारोपितार्थाकाराः त्रैधातुकाश्चित्तचैत्ता विकल्प उच्यते। यथोक्तम्—"अभूतपरिकल्पस्तु चित्तचैत्तास्त्रिधातुकाः" इति। तेन त्रिविधेन विकल्पेनालयविज्ञानक्लिष्टमनः प्रवृत्तिविज्ञानस्वभावेन ससंप्रयोगेण यद्विकल्प्यते भाजनमात्मा स्कन्धधात्वायतनरूपशब्दादिकं वस्तु तन्नास्तीत्यतः स विज्ञानपरिणामो विकल्प उच्यते। असदालम्बनत्वात्।

यह जो विज्ञान का परिणाम तीन प्रकार का कहा गया है वही विकल्प है। अध्यारोपितविषय के आकार में उपलब्ध त्रैधातुक (कामधातु, रूपधातु, तथा अरूपधातु) चित्त चैतसिकों को विकल्प कहते हैं। यथा कहा गया है:—'ये त्रैधातुक चित्त चैतसिक धर्म अयथार्थ (अभूत) तथा परिकल्पित (कल्पनामात्र) हैं'। इसप्रकार त्रिविध विकल्प अर्थात् आलयविज्ञान, क्लिष्टमन तथा प्रवृत्तिविज्ञान के स्वभाव तथा उनके संप्रयोग से जो विकल्प किये जाते हैं, वे भाजन लोक, आत्मा, स्कन्ध, धातु, आयतन, रूप, शब्द आदि वस्तु यथार्थ नहीं हैं, वे सभी विज्ञान परिणाम हैं, जो कल्पना मात्र है।

कथं पुनरेतद्विज्ञायते तदालम्बनम् असदिति। यद्धि यस्य कारणं तस्मिन्समग्रे चाविरुद्धे च तदुत्पद्यते नान्यतः। विज्ञानं च माया गन्धर्वनगरस्वप्नतिमिरादावसत्यालम्बने[1] जायते। यदि च विज्ञानस्यालम्बन-

१. C. असत्यप्याल—।

प्रतिबद्ध उत्पादः स्यात् एवं सति मायादिष्वर्थाभावान्न विज्ञानमुत्पद्यते। तस्मात् पूर्वकान् निरुद्धात् तज्जातीयविज्ञानाद् विज्ञानमुत्पद्यते,[1] न बाह्यादर्थात् तस्मिन्नसत्यपि भावात्[2]।

पुनः यह कैसे जाना जाता है कि उसका आलम्बन असत है? जो जिसका कारण होता है उसके समग्र और अविरुद्ध होने पर उत्पन्न होता है, दूसरों से नहीं। विज्ञान माया गन्धर्वनगर स्वप्न तिमिरादि में आलम्बन के न होने पर भी उत्पन्न होता है। यदि विज्ञान की उत्पत्ति आलम्बन पर निर्भर होती तब तो मायादि में वस्तु (विषय) के न रहने पर विज्ञान उत्पन्न नहीं होता। अतः पूर्व विज्ञान के नष्ट होने पर तद् जातीय विज्ञान से अन्य विज्ञान उत्पन्न होता है, बाह्यपदार्थ से नहीं क्योंकि उसके न होने पर भी विज्ञान होता है।

दृष्टा चाभिन्नेऽप्यर्थे प्रतिपत्तॄणां परस्परविरुद्धा प्रतिपत्तिः। न चैकस्य परस्परविरुद्धानेकात्मकत्वं युज्यते। तस्मात् अध्यारोपितरूपत्वाद् विकल्पस्यालम्बनम् असदिति प्रतिपत्तव्यम्।

एक ही पदार्थ में उसका अनुभव करनेवालों में परस्पर विरुद्ध अनुभव देखे जाते हैं। एक वस्तु का परस्पर विरुद्ध अनेक रूपवाला होना युक्त नहीं है। अतः अध्यारोपित रूपवाला होने से विकल्प का आलम्बन असत् है—ऐसा समझना चाहिए।

अनेन तावत् समारोपान्तं परिहृत्यापवादान्त परिजिहीर्षया आह—'तेनेदं सर्वं विज्ञप्तिमात्रकम्'। इति।

इस कथन से समारोपान्त का परिहार करके अपवादान्त के परिहार की इच्छा से कहा गया है—

'इस कारण से सब कुछ विज्ञप्तिमात्र' है।

तेनेति तस्मात्। यस्मात् परिणामात्मकेन विकल्पेन यद्विकल्प्यते। तेन तन्नास्ति। तस्माद् विषयाभावात् सर्वं विज्ञप्तिमात्रकम्। सर्वमिति त्रैधातुकमसंस्कृतं च। मात्रशब्दस्तदधिकविषयव्यवच्छेदार्थः। ककारः पादपूरणार्थः।

'तेनेति' का अर्थ है उस कारण से। यस्मात् यह परिणामात्मक विकल्प से होता है, अतः वह (वस्तुतः) नहीं है। अतः विषय के अभाव में यह सब कुछ विज्ञप्तिमात्र है। 'सर्वमिति' का अर्थ त्रैधातुक (कामधातु, रूपधातु, तथा अरूप-

---

१. C. उत्पद्येत।

२. C. उद्भावात् (?)

धातु) तथा असंस्कृत है । 'मात्र' शब्द यहां उससे अधिक विषय के व्यवच्छेद के लिए है । ककार पाद पूरणार्थ है ।

(१८)

यदि सर्वं विज्ञप्तिमात्रकमेव न ततोऽन्यः कर्ता [1]कारणं वास्ति, कथं मूलविज्ञानाद् अनधिष्ठिताद् असति करणे विकल्पाः प्रवर्तन्त इत्याह—

(१८)

यदि सब कुछ विज्ञप्तिमात्र ही है, न उससे भिन्न कर्त्ता ही है, न करण ही तो अधिष्ठान तथा करण के विना मूलविज्ञान से विकल्प कैसे प्रवृत्त होते हैं ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहा गया है :—

सर्वबीजं हि विज्ञानं परिणामस्तथा तथा ।
यात्यन्योन्यवशाद् येन विकल्पः स स जायते ॥ १८ ॥

सब का बीज विज्ञान है । अन्योन्य वश से उस उस प्रकार के परिणाम होते हैं और उसी के कारण विकल्प भी उत्पन्न होते हैं ॥ १८ ॥

तत्र सर्वधर्मोत्पादनशक्त्यनुगमात् सर्वबीजम् । विज्ञानमित्यालयविज्ञानम् । विज्ञानं ह्यसर्वबीजमप्यस्तीति, अतः सर्वबीजमित्याह । विज्ञानाद् अन्यदपि कैश्चित् प्रधानादि सर्वबीजं कल्प्यत-इति विज्ञानमित्याह । अथ वा एकपदव्यभिचारेऽपि विशेषणविशेष्यत्वदर्शनान् नायं दोषः ।

सभी धर्मों को उत्पन्न करने वाली शक्ति से अनुगत होने के कारण (वह) सब का बीज कहलाता है । विज्ञान का अभिप्राय (यहाँ) आलयविज्ञान से है । जो सबका बीज न हो, ऐसा भी विज्ञान होता है, अतः इसे 'सब का बीज' ऐसा विशेषण दिया गया है । विज्ञान से भिन्न प्रधान आदि को 'सबका बीज' कुछ लोग मानते हैं, अतः-'वह विज्ञान ही है'—ऐसा कहा गया है । अथवा एक पद के अर्थ का व्यभिचार होने पर भी विशेषण विशेषत्व देखा जाता है । इसलिये यह दोष नहीं है ।

परिणामस्तथा तथा यात्यन्योन्यवशादिति । पूर्वावस्थातोऽन्यथाभावः परिणामः । तथा तथेति तस्य तस्य विकल्पस्यानन्तरोत्पादनसमर्थावस्थां प्राप्नोतीत्यर्थः । अन्योन्यवशादिति, तथा हि चक्षुरादिविज्ञानं स्वशक्तिपरिपोषे वर्तमाने शक्तिविशिष्टस्यालयविज्ञानपरिणामस्य

---

1. C. च ।

निमित्तं, सोऽपि आलयविज्ञानपरिणामः चक्षुरादिविज्ञानस्य निमित्तं भवति। एवमन्योन्यवशाद् यस्मादुभयं प्रवर्तते। तस्मादालयविज्ञानाद् अन्येनानधिष्ठिताद् अनेकप्रकारो विकल्पः स स जायते। तत्र च वर्तमाने जन्मनि यथालयविज्ञानात् प्रवृत्तिविज्ञानस्योत्पत्तिर्भवति तथाख्यातम्।

इस प्रकार अन्योन्य वश से अर्थात् एक दूसरे के प्रभाव से उस प्रकार के परिणाम उत्पन्न होते हैं। पूर्व अवस्था से अन्य अवस्था की प्राप्ति परिणाम है। 'तथा तथेति' का अर्थ है, उस उस विकल्प के अनन्तर उत्पादन समर्थ अवस्था को प्राप्त करता है। 'अन्योन्यवशात्' का अर्थ है चक्षुविज्ञान आदि अपनी शक्ति की परिपुष्टि में विद्यमान होकर शक्तिविशिष्ट आलयविज्ञान के परिणाम का निमित्त बनते हैं तथा वह आलयविज्ञान का परिणाम भी चक्षुविज्ञानादि का निमित्त होता है। इस प्रकार एक दूसरे के सहयोग से दोनों की प्रवृत्ति होती है। इस क्रम से अधिष्ठानरहित आलयविज्ञान से अनेक प्रकार के विकल्प उत्पन्न होते हैं। (अतः) इस जन्म में आलयविज्ञान से प्रवृत्तिविज्ञान की उत्पत्ति जिस प्रकार होती है, वह कह दिया गया।

(१८)

इदानीं विज्ञप्तिमात्रे अनागतं जन्म वर्तमानजन्मनिरोधे सति यथा प्रतिसंधीयते तत् प्रदर्शयन्नाह—

कर्मणो वासना ग्राहद्वयवासनया सह।
क्षीणे पूर्वविपाकेऽन्यद्विपाकं जनयन्ति तत् ॥ १९ ॥

(१९)

अब विज्ञप्तिमात्र के अन्तर्गत वर्तमान जन्म के निरुद्ध होने पर अनागत जन्म का प्रतिसन्धान कैसे होता है, इसको दर्शाते हुए कहा गया है:—

'ग्राहद्वयवासना अर्थात् ग्राह्यग्राहकवासना के साथ कर्मवासना पूर्व आलयविज्ञान के नष्ट होने पर अन्य आलयविज्ञान को उत्पन्न करती है ॥ १९ ॥

इति। पुण्यापुण्यानेञ्ज्यचेतना कर्म। तेन कर्मणा यदानागतात्मभावाभिनिर्वृत्तये आलयविज्ञाने सामर्थ्यमाहितं सा कर्मवासना। ग्राहद्वयम्—ग्राह्यग्राहो ग्राहकग्राहश्च। तत्र विज्ञानात् पृथगेव स्वसंतानाध्यासितं ग्राह्यमस्तीत्यध्यवसायो ग्राह्यग्राहः। तच्च विज्ञानेन प्रतीयते

विज्ञायते गृह्यत इति योऽयं निश्चयः स ग्राहकग्राहः। पूर्वोत्पन्नग्राह्यग्राहकग्राहाक्षिप्तमनागततज्जातीयग्राह्यग्राहकग्राहोत्पत्तिबीजं ग्राहद्वयवासना।

कुशल, अकुशल तथा आनेञ्जचेतना को कर्म कहते हैं। भविष्य में आत्मभाव से अभिनिर्वृत्ति के लिए आलयविज्ञान में उस कर्म के द्वारा जो सामर्थ्य उत्पन्न होता है, उसे कर्मवासना कहते हैं। ग्राहद्वय का अर्थ है—ग्राह्यग्राह तथा ग्राहकग्राह। (उनमें) विज्ञान से पृथक् स्वसन्तान में अर्थात् अपने विज्ञानप्रवाह में आरोपितग्राह्य पदार्थ है, ऐसा अध्यवसाय ग्राह्यग्राह है। वह ग्राह्य विज्ञान के द्वारा जाना जाता है, ऐसा निश्चय ग्राहकग्राह है। पूर्व उत्पन्न ग्राह्य एवं ग्राहक ग्राहों द्वारा आक्षिप्त भविष्यत् के तत्समान ग्राह्य-ग्राहक-ग्राहों की उत्पत्ति के बीज को ग्राहद्वय वासना कहते हैं।

तत्र कर्मवासनाभेदाद् गतिभेदेनात्मभावभेदः बीजभेदादङ्कुरभेदवत्। ग्राहद्वयवासना तु[1] सर्वकर्मवासनानां यथास्वम् आक्षिप्तात्मभावोत्पादने प्रवृत्तानां सहकारित्वं प्रतिपद्यते। तद्यथा अब्आदयोऽङ्कुरस्योत्पत्ताविति। एवं च न केवलाः कर्मवासना ग्राहद्वयवासनाननुगृहीता विपाकं जनयन्तीत्युक्तं भवति। अत एवाह—ग्राहद्वयवासनया सहेति।

पुनः बीजभेद से अंकुरभेद के समान कर्मवासनाभेद से तथा गतिभेद से आत्मभाव अर्थात् जन्मग्रहण में भेद होता है। ग्राहद्वयवासना यथा योग्य भिन्न भिन्न योनियों को उत्पन्न करने में प्रवृत्त सभी कर्मवासनाओं का सहकारी कारण बनती है। जैसे-जल आदि अंकुर की उत्पत्ति में सहायक होते हैं। इस प्रकार यह फलित हुआ कि ग्राहद्वयवासना के सहकारिता के बिना केवल कर्म वासनायें विपाक को नहीं उत्पन्न कर सकती हैं। इसलिए कहा गया है कि-'दोनों ग्राहों की वासना के साथ ही'।

क्षीणे पूर्वविपाकेऽन्यद्विपाकं जनयन्ति तदिति, पूर्वजन्मोपचितेन कर्मणा य इह विपाकोऽभिनिर्वृत्तस्तस्मिन् क्षीणे इति। आक्षेपकाले पर्यन्तावस्थिते यथाबलं कर्मवासना ग्राहद्वयवासनासहिता उपभुक्ताद्विपाकाद् अन्यद्विपाकं तदेवालयविज्ञानं जनयन्ति। आलयविज्ञानव्यतिरेकेणान्यस्य विपाकस्याभावात्। क्षीणे पूर्वविपाक इत्यनेन शाश्वतान्तं परिहरति। अन्यद्विपाकं जनयन्तीत्युच्छेदान्तम्।

'पूर्व विपाक के क्षीण होने पर अन्य विपाक को वे (कर्मवासनायें) उत्पन्न करती हैं', इसका यह अर्थ है कि पूर्व जन्म में उपचित कर्म से यहाँ जो विपाक

१. A. ग्राहद्वयवासनायास्तु (?)

निमित्तं, सोऽपि आलयविज्ञानपरिणामः चक्षुरादिविज्ञानस्य निमित्तं भवति। एवमन्योन्यवशाद् यस्मादुभयं प्रवर्तते। तस्मादालयविज्ञानाद् अन्येनानधिष्ठिताद् अनेकप्रकारो विकल्पः स स जायते। तत्र च वर्तमाने जन्मनि यथालयविज्ञानात् प्रवृत्तिविज्ञानस्योत्पत्तिर्भवति तथाख्यातम्।

इस प्रकार अन्योन्य वश से अर्थात् एक दूसरे के प्रभाव से उस प्रकार के परिणाम उत्पन्न होते हैं। पूर्व अवस्था से अन्य अवस्था की प्राप्ति परिणाम है। 'तथा तथेति' का अर्थ है, उस उस विकल्प के अनन्तर उत्पादन समर्थ अवस्था को प्राप्त करता है। 'अन्योन्यवशात्' का अर्थ है चक्षुविज्ञान आदि अपनी शक्ति की परिपुष्टि में विद्यमान होकर शक्तिविशिष्ट आलयविज्ञान के परिणाम का निमित्त बनते हैं तथा वह आलयविज्ञान का परिणाम भी चक्षुविज्ञानादि का निमित्त होता है। इस प्रकार एक दूसरे के सहयोग से दोनों की प्रवृत्ति होती है। इस क्रम से अधिष्ठानरहित आलयविज्ञान से अनेक प्रकार के विकल्प उत्पन्न होते हैं। (अतः) इस जन्म में आलयविज्ञान से प्रवृत्तिविज्ञान की उत्पत्ति जिस प्रकार होती है, वह कह दिया गया।

(१६)

इदानीं विज्ञप्तिमात्रे अनागतं जन्म वर्तमानजन्मनिरोधे सति यथा प्रतिसंधीयते तत् प्रदर्शयन्नाह—

कर्मणो वासना ग्राहद्वयवासनया सह।
क्षीणे पूर्वविपाकेऽन्यद्विपाकं जनयन्ति तत् ॥ १९ ॥

(१९)

अब विज्ञप्तिमात्र के अन्तर्गत वर्तमान जन्म के निरुद्ध होने पर अनागत जन्म का प्रतिसन्धान कैसे होता है, इसको दर्शाते हुए कहा गया है :—

'ग्राहद्वयवासना अर्थात् ग्राह्यग्राहकवासना के साथ कर्मवासना पूर्व आलयविज्ञान के नष्ट होने पर अन्य आलयविज्ञान को उत्पन्न करती है ॥ १९ ॥

इति। पुण्यापुण्यानेञ्ज्यचेतना कर्म। तेन कर्मणा यदानागतात्मभावाभिनिर्वृत्तये आलयविज्ञाने सामर्थ्यमाहितं सा कर्मवासना। ग्राहद्वयम्—ग्राह्यग्राहो ग्राहकग्राहश्च। तत्र विज्ञानात् पृथगेव स्वसंतानाध्यासितं ग्राह्यमस्तीत्यध्यवसायो ग्राह्यग्राहः। तच्च विज्ञानेन प्रतीयते

विज्ञायते गृह्यत इति योऽयं निश्चयः स ग्राहकग्राहः। पूर्वोत्पन्नग्राह्यग्राहकग्राहाक्षिप्तमनागततज्जातीयग्राह्यग्राहकग्राहोत्पत्तिबीजं ग्राहद्वयवासना।

कुशल, अकुशल तथा आनेञ्जचेतना को कर्म कहते हैं। भविष्य में आत्मभाव से अभिनिर्वृत्ति के लिए आलयविज्ञान में उस कर्म के द्वारा जो सामर्थ्य उत्पन्न होता है, उसे कर्मवासना कहते हैं। ग्राहद्वय का अर्थ है—ग्राह्यग्राह तथा ग्राहकग्राह। (उनमें) विज्ञान से पृथक् स्वसन्तान में अर्थात् अपने विज्ञानप्रवाह में आरोपितग्राह्य पदार्थ है, ऐसा अध्यवसाय ग्राह्यग्राह है। वह ग्राह्य विज्ञान के द्वारा जाना जाता है, ऐसा निश्चय ग्राहकग्राह है। पूर्व उत्पन्न ग्राह्य एवं ग्राहक ग्राहों द्वारा आक्षिप्त भविष्यत् के तत्समान ग्राह्य-ग्राहक-ग्राहों की उत्पत्ति के बीज को ग्राहद्वय वासना कहते हैं।

तत्र कर्मवासनाभेदाद् गतिभेदेनात्मभावभेदः बीजभेदादङ्कुरभेदवत्। ग्राहद्वयवासना तु[1] सर्वकर्मवासनानां यथास्वम् आक्षिप्तात्मभावोत्पादने प्रवृत्तानां सहकारित्वं प्रतिपद्यते। तद्यथा अब्रादयोऽङ्कुरस्योत्पत्ताविति। एवं च न केवलाः कर्मवासना ग्राहद्वयवासनाननुगृहीता विपाकं जनयन्तीत्युक्तं भवति। अत एवाह—ग्राहद्वयवासनया सहेति।

पुनः बीजभेद से अंकुरभेद के समान कर्मवासनाभेद से तथा गतिभेद से आत्मभाव अर्थात् जन्मग्रहण में भेद होता है। ग्राहद्वयवासना यथा योग्य भिन्न भिन्न योनियों को उत्पन्न करने में प्रवृत्त सभी कर्मवासनाओं का सहकारी कारण बनती है। जैसे-जल आदि अंकुर को उत्पत्ति में सहायक होते हैं। इस प्रकार यह फलित हुआ कि ग्राहद्वयवासना के सहकारिता के बिना केवल कर्म वासनायें विपाक को नहीं उत्पन्न कर सकती हैं। इसलिए कहा गया है कि–'दोनों ग्राहों की वासना के साथ ही'।

क्षीणे पूर्वविपाकेऽन्यद्विपाकं जनयन्ति तदिति, पूर्वजन्मोपचितेन कर्मणा य इह विपाकोऽभिनिर्वृत्तस्तस्मिन् क्षीणे इति। आक्षेपकाले पर्यन्तावस्थिते यथाबलं कर्मवासना ग्राहद्वयवासनासहिता उपभुक्ताद्विपाकाद् अन्यद्विपाकं तदेवालयविज्ञानं जनयन्ति। आलयविज्ञानव्यतिरेकेणान्यस्य विपाकस्याभावात्। क्षीणे पूर्वविपाक इत्यनेन शाश्वतान्तं परिहरति। अन्यद्विपाकं जनयन्तीत्युच्छेदान्तम्।

'पूर्व विपाक के क्षीण होने पर अन्य विपाक को वे (कर्मवासनायें) उत्पन्न करती हैं', इसका यह अर्थ है कि पूर्व जन्म में उपचित कर्म से यहाँ जो विपाक

---

१. A. ग्राहद्वयवासनायास्तु (?)

को अभिनिर्वृत्तिहोती है, उसके क्षीण होने पर। आक्षेप काल की पर्यन्तावस्था में कर्मवासनायें यथाशक्ति ग्राहद्वयवासना के सहित उपभुक्त विपाक से अन्यविपाक अर्थात् आलयविज्ञान को उत्पन्न करती हैं। आलयविज्ञान के अतिरिक्त अन्य विपाक का अभाव है (अर्थात् आलयविज्ञान के अतिरिक्त अन्य विपाक नहीं होता है)। 'पूर्व विपाक के क्षीण होने से' शाश्वतवाद के सिद्धान्त का परिहार किया गया है। 'अन्य विपाक उत्पन्न करती हैं'—इस पद से उच्छेदवाद के सिद्धान्त का (निराकरण होता है)।

चक्षुरादिविज्ञानव्यतिरिक्तमालयविज्ञानमस्ति। तदेव च सर्वबीजकं न चक्षुरादिविज्ञानमिति। कुत एतत्? आगमाद् युक्तितश्च। उक्तं हि भगवताभिधर्मसूत्रे—

अनादिकालिको धातुः सर्वधर्मसमाश्रयः।
तस्मिन् सति गतिः सर्वा निर्वाणाधिगमोऽपि वा॥

चक्षुविज्ञान आदि के व्यतिरिक्त आलयविज्ञान है। वही ही सर्व बीजक है, न कि चक्षुविज्ञानादि। यह कैसे? आगम तथा युक्ति से। भगवान द्वारा अभिधर्म सूत्र में कहा गया है:—

'(यह आलयविज्ञान) सभी धर्मों का आश्रय अनादिकालिक धातु है। उसी के होने पर संसार की गति या निर्वाण की प्राप्ति होती है।

न चालयविज्ञानमन्तरेण संसारप्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा युज्यते। तत्र संसार-प्रवृत्तिर् निकायसभागान्तरेषु प्रतिसंधिबन्धः। निवृत्तिः सोपधिशेषो निरुपधिशेषश्च निर्वाणधातुः। तत्रालयविज्ञानाद् अन्यत् संस्कारप्रत्ययं विज्ञानं न युज्यते। संस्कारप्रत्ययविज्ञानाभावे प्रवृत्तेरप्यभावः संसारस्य। आलयविज्ञानानभ्युपगमे प्रतिसंधिविज्ञानं वा संस्कारप्रत्ययं परिकल्प्येत संस्कारभाविता[1] वा षड्विज्ञानकायाः।

आलयविज्ञान के विना संसार की प्रवृत्ति या निवृत्ति संभव नहीं है। संसार की प्रवृत्ति का अर्थ है अन्य जन्मान्तरीय शरीरों में प्रतिसन्धि का होना। निवृत्ति का अर्थ है—सोपधिशेष, निरुपधिशेष निर्वाणधातु। आलयविज्ञान के अतिरिक्त संस्कार से होने वाला अन्य विज्ञान संभव नहीं। संस्कार से होने वाले वित्तान के अभाव में संसार की प्रवृत्ति का भी अभाव है। आलयविज्ञान को न स्वीकार करने से प्रतिसन्धि विज्ञान को संस्कार प्रत्यय मानना होगा या संस्कार भावित छ विज्ञान कायों को मानना होगा।

---

१. C. परिभाविता।

तत्र ये[1] संस्काराः प्रातिसंधिकविज्ञानप्रत्ययत्वेनेष्यन्ते, तेषां चिरनिरुद्धत्वात्, निरुद्धस्य चासत्त्वात्, असतश्च प्रत्ययत्वाभावात् न संस्कारप्रत्ययं प्रतिसंधिविज्ञानं युज्यते।

उनमें जिन संस्कारों को प्रातिसन्धिकविज्ञान का कारण माना जाता है, उनके तो बहुत पहले ही निरुद्ध हो जाने से, जो निरुद्ध हैं, उसके नहीं रहने से, जो नहीं हैं, उसका कारण न होने से, संस्कार के प्रत्यय से प्रतिसन्धिविज्ञान का होना युक्त नहीं है।

प्रतिसंधौ च नामरूपमप्यस्ति न केवलं विज्ञानम्। तत्र विज्ञानमेव संस्कारप्रत्ययं न नामरूपमिति, का तत्र युक्तिः। तस्मात् संस्कारप्रत्ययं नामरूपमिति वक्तव्यं न तु विज्ञानमिति।

प्रतिसन्धि में नामरूप भी होता है, केवल विज्ञान नहीं। तो पुनः विज्ञान को ही संस्कार के प्रत्यय से उत्पन्न क्यों माना जाय, नामरूप को क्यों नहीं, इसमें क्या युक्ति है? अतः संस्कार के प्रत्यय से नामरूप को ही उत्पन्न समझना चाहिए, विज्ञान को नहीं।

कतमदन्यद्[2] विज्ञानप्रत्ययं नामरूपम्? यदुत्तरकालमिति चेत् तस्य प्रातिसंधिकनामरूपात् क आत्मातिशयः यतस्तदेव विज्ञानप्रत्ययं न पूर्वं पूर्वं च संस्कारप्रत्ययं नोत्तरमिति? अतश्च संस्कारप्रत्ययं नामरूपमेवास्तु किं प्रातिसंधिविज्ञानेनाङ्गान्तरेण परिकल्पितेन। तस्मान्न प्रतिसंधिविज्ञानं संस्कारप्रत्ययं युज्यते। संस्कारपरिभाविता वा षड्विज्ञानकाया अपि न संस्कारप्रत्ययं विज्ञानं युज्यते।

पुनः वह कौन सा नामरूप है जो विज्ञान से उत्पन्न होता है। यदि यह कहा जाय कि जो उत्तर काल में उत्पन्न नामरूप है, वह विज्ञान से (उत्पन्न) होता है, तो उस नामरूप में प्रातिसन्धिक नामरूप से क्या विशेषता है, जिससे कि वही विज्ञान प्रत्यय है, पहलेवाला नहीं। तथा (इसमें भी क्या युक्ति है कि) पूर्वकालिक नामरूप का कारण संस्कार है, उत्तरकालिक नामरूप का नहीं? अतः जब संस्कार के कारण नामरूप की उत्पत्ति मान ली जाय तो एक अन्य अंग प्रतिसन्धिविज्ञान की कल्पना की क्या आवश्यकता है? एतदर्थ प्रतिसन्धिविज्ञान को संस्कार प्रत्यय से उत्पन्न मानना युक्त नहीं है। संस्कार परिभावित (उत्पन्न) छ विज्ञानकायों को भी संस्कार प्रत्यय से उत्पन्न मानना युक्त नहीं है।

---

१. C. ये मे।   २. A. कतमदन्य'''(?)

किं कारणम्? न हि विज्ञानं विपाकवासनां निष्यन्दवासनां वा स्वात्मन्याधातुं समर्थं, स्वात्मनि कारित्रविरोधात्, नाप्यनागते तस्य तदानुत्पन्नत्वात्। अनुत्पन्नस्य चासत्त्वात्। नाप्युत्पन्ने, पूर्वस्य तदा निरुद्धत्वात्। अचित्तिकासु च निरोधसमापत्त्याद्यवस्थासु पुनः संस्कार-परिभावितचित्तोत्पत्त्यसंभवात्। विज्ञानप्रत्ययं नामरूपं न स्यात्,[1] षडायतनं न स्यात्। एवं यावज्जातिप्रत्ययं जरामरणं न स्यात्। ततश्च संसारप्रवृत्तिरेव न स्यात्। तस्मादविद्याप्रत्ययाः संस्काराः तदधिवासितालयविज्ञानं संस्कारप्रत्ययं विज्ञानम्। तत्प्रत्ययं प्रतिसंधौ नामरूप-मित्येषैव नीतिरनवद्या।

इसका क्या कारण है? विज्ञान विपाकवासना तथा निष्यन्दवासना को अपने में धारण करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि अपने आप में क्रिया का विरोध है, तथा अनागत विज्ञान में भी (विपाकवासना तथा निष्यन्दवासना नहीं रह सकती हैं) क्योंकि वह उस समय तक उत्पन्न ही नहीं रहता है। जो उत्पन्न ही नहीं है, वह अविद्यमान है। जो पूर्व में उत्पन्न है, उसमें भी (इनका) धारण नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वह तो उस समय निरुद्ध रहता है। अचित्तकनिरोधसमापत्ति आदि अवस्थाओं में संस्कार-परिभावित चित्त की उत्पत्ति असंभव है। जब विज्ञान प्रत्यय नामरूप न हों, षड़ायतन न हों, तो इस प्रकार जाति प्रत्यय जरामरण तक न हो। तब संसार की प्रवृत्ति न हो। अतः अविद्या के प्रत्यय से संस्कार होते हैं और उनसे अधिवासित आलयविज्ञान हो संस्कार से होने वाला विज्ञान है। उसके प्रत्यय से प्रतिसन्धि के समय नाम रूप उत्पन्न होते हैं, यह जो नीति है वह अनवद्य अर्थात् निर्दोष है।

संसारनिवृत्तिरपि आलयविज्ञाने असति न युज्यते। संसारस्य हि कर्म क्लेशाश्च कारणम्। तयोश्च क्लेशाः प्रधानम्। तथा हि क्लेशाधिपत्यात् कर्म पुनर्भवाक्षेपसमर्थं भवति नान्यथा। तथा आक्षिप्तपुनर्भवोपि कर्म[2] क्लेशाधिपत्यादेव पुनर्भवो भवति नान्यथा। एवं च क्लेशा एव संसारप्रवृत्तेः प्रधानत्वान् मूलम्। अतस्तेषु प्रहीणेषु संसारो विनिवर्तते, नान्यथा।

आलयविज्ञान के न रहने से संसार की निवृत्ति भी युक्त नहीं है। संसार के कारण कर्म और क्लेश हैं। उनमें क्लेश प्रधान हैं। क्लेश के आधिपत्य से कर्म पुनर्भव में ले जाने में समर्थ होता है अन्यथा नहीं। पुनर्जन्म को लाने में कर्म को समर्थ होने पर भी क्लेश के आधिपत्य से ही पुनर्जन्म होता है,

१. C. तदभावात् षडायतनं न स्यात्।

२. —पुनर्भवेपि कर्मणि?

अन्यथा नहीं। अतः क्लेश ही संसार की प्रवृत्ति में प्रधान होने के कारण मूल हैं। अतः उनके प्रहीण होने से संसार की निवृत्ति होती है, अन्यथा नहीं।

न चालयविज्ञानमन्तरेण तत्प्रहाणं युज्यते। कथं पुनर्न युज्यते? संमुखीभूतो वा क्लेशः प्रहीयते, बीजावस्थो वा। तत्र संमुखीभूतः प्रहीयत इति अनिष्टिरेवेयम्। तत्र[1] प्रहाणमार्गस्थायिनां वा बीजावस्थोऽपि नैव प्रहीयते। न हि प्रतिपक्षात् तदानीं किंचिदन्यदभ्युपगम्यते। यत्र क्लेशबीजं व्यवस्थितं तत्प्रतिपक्षेण प्रहीयेत। अथ प्रतिपक्षचित्तम् एव क्लेशबीजानुषक्तम् इष्यते, न हि तत् क्लेशबीजानुषक्तमेव तत्प्रतिपक्षो भवितुमर्हति। न चाप्रहीणक्लेशबीजानां संसारनिवृत्तिः संभवति। तस्मादवश्यम् आलयविज्ञानं तदन्यविज्ञानसहभूमि क्लेशोपक्लेशैर्भाव्यते स्वबीजपुष्ट्यादानत इत्यभ्युपेयम्।

आलयविज्ञान के विना उनका (क्लेशों का) प्रहाण भी युक्त नहीं है। वह कैसे युक्त नहीं है? (दो प्रकार के क्लेश हो सकते हैं—संमुखीभूत या बीजावस्थ) तो जो क्लेश संमुख विद्यमान हैं, उनका प्रहाण माना जाय या जो बीजरूप से स्थित हैं उनका? इनमें यदि यह मान्य हो कि संमुखीभूत क्लेश नष्ट होते हैं, तो यह युक्त नहीं। तथा जो प्रहाणमार्ग में स्थित हैं, उनके बीजावस्थ भी क्लेश नष्ट नहीं होते हैं। प्रतिपक्ष के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ की सत्ता को (आलयविज्ञान न माननेवाले) नहीं मानते हैं। जहां क्लेशबीज स्थित हैं, तो उसके प्रतिपक्ष से नष्ट होते हैं। जब प्रतिपक्ष चित्त को ही क्लेशबीजों से अनुषक्त (युक्त) माना जाय, तो क्लेशबीजों से युक्त होता हुआ उसका प्रतिपक्षी नहीं हो सकता है। क्लेशबीजों के नाश हुए विना संसार से निवृत्ति नहीं हो सकती है। अतः अवश्य ही आलयविज्ञान उससे भिन्न विज्ञानों के साथ होनेवाले क्लेश तथा उपक्लेशों के द्वारा अपने बीज की पुष्टि के आदान से भावित होता है (अर्थात् नया नया रूप धारण करते रहता है), ऐसा समझना चाहिए।

ये पुनश्चित्तत एव संततिपरिणामविशेषाद् यथाबलं वासनावृत्तिलाभे सति क्लेशोपक्लेशाः प्रवर्तन्ते, तेषां चालयविज्ञानव्यवस्थितं बीजं तत्सहभुवा क्लेशप्रतिपक्षमार्गेणापनीयते। तस्मिंश्चापनीते न पुनस्तेनाश्रयेण क्लेशानामुत्पत्तिरिति, सोपधिशेषो निर्वाणधातुः प्राप्यते। पूर्वकर्माक्षिप्तजन्मनिरोधे च ततोऽन्यजन्माप्रतिसंधानान्[2] निरुपधिशेषो निर्वाणधातुः। न हि कर्म विद्यमानमपि क्लेशेषु प्रहीणेषु सहकारिकारणा-

---

१. C. तस्य। २. C. स्थितत्त्वात्।

भावात् पुनर्भवमभिनिर्वर्तयितुं समर्थम्। एवम् आलयविज्ञाने सति संसारप्रवृत्तिर्निवृत्तिश्च, नान्यथेत्यवश्यं चक्षुरादिविज्ञानव्यतिरिक्तम् आलयविज्ञानम्। तदेव च सर्वकर्मबीजानुगतं, न चक्षुरादिविज्ञानमित्यभ्युपगन्तव्यम्। विस्तरविचारस्तु पञ्चस्कन्धकोपनिबन्धाद् वेदितव्यः।

जो क्लेशोपक्लेश चित्त ही के परिणामविशेष से यथाशक्ति वासनावृत्ति का लाभ होने पर प्रवृत्त होते हैं, उनके आलयविज्ञान में स्थित बीज, उनके साथ होने वाले क्लेशप्रतिपक्ष मार्ग से नष्ट होते हैं। बीज के नष्ट होने पर पुनः उस आश्रय से क्लेशों की उत्पत्ति नहीं होती है, अतः सोपधिशेषनिर्वाण की प्राप्ति होती है। पूर्व कर्मों द्वारा आक्षिप्त जन्म के नष्ट हो जाने से, तथा उसके उपरान्त अन्य जन्म का प्रतिसन्धान न होने से निरुपधिशेषनिर्वाण की प्राप्ति होतो है। कर्म के विद्यमान रहने पर भी सहकारी कारणों के अभाव हो जाने से वह (आलयविज्ञान) पुनर्जन्म देने में समर्थ नहीं होता है। इस प्रकार आलयविज्ञान के रहने से ही संसार की प्रवृत्ति तथा निवृत्ति संभव है, अन्यथा नहीं। अतः चक्षुविज्ञानादि से व्यतिरिक्त आलयविज्ञान को अवश्य मानना चाहिए। वही ही सभी कर्म बीजों से अनुगत है, चक्षुविज्ञानादि नहीं, ऐसा समझना चाहिए। विस्तारपूर्वक विचार के लिए इसे पञ्चस्कन्धोपनिबन्ध नामक ग्रन्थ के अनुसार जानना चाहिए।

(२०)

यदि विज्ञप्तिमात्रमेवेदं कथं न सूत्रविरोधः ? सूत्रेषु हि त्रयः स्वभावा उक्ताः परिकल्पितः परतन्त्रः परिनिष्पन्नश्च। नास्ति विरोधः। विज्ञप्तिमात्र एव सति स्वभावत्रयव्यवस्थानात्। कथमित्यत आह—

येन येन विकल्पेन यद्यद् वस्तु विकल्प्यते।
परिकल्पित एवासौ स्वभावो न स विद्यते॥ २०॥

(२०)

यदि सब कुछ विज्ञप्तिमात्र ही है तो सूत्र का विरोध क्यों नहीं होता है? सूत्रों में तो (वस्तुओं) का तीन प्रकार का स्वभाव कहा गया है—परिकल्पित परतन्त्र, और परिनिष्पन्न। सूत्र का विरोध (इससे) नहीं होता है। विज्ञप्तिमात्र होने पर भी तीन प्रकार के स्वभावों की व्यवस्था हो जाती है। वह कैसे होती है, इस पर कहा गया है :—

जिस जिस विकल्प से जिस वस्तु का विकल्प होता है, वह परिकल्पित स्वभाव है। वह वास्तविक नहीं है॥ २०॥

आध्यात्मिकबाह्यविकल्प्यवस्तुभेदेन विकल्प्यानामानन्त्यं प्रदर्शयन्नाह। येन येन विकल्पेनेति, यद् यद् वस्तु प्रकल्प्यते, आध्यात्मिकं बाह्यं वान्तशो यावद् बुद्धधर्मा अपि, परिकल्पित एवासौ स्वभाव इति। अत्र कारणमाह, 'न स विद्यत इति'। यद्‌ वस्तु विकल्पविषयस्तद् यस्मात् सत्ताऽभावान्न विद्यते। तस्मात् तद्वस्तु परिकल्पितस्वभावमेव। न हेतुप्रत्ययप्रतिपद्यस्वभावम्। तथा ह्येकस्मिन् वस्तुनि तदभावे च परस्परविरुद्धानेकविकल्पप्रवृत्तिर्दृष्टा। न च तदेकं वस्तु तदभावो वा परस्परविरुद्धानेकस्वभावो युज्यते। तस्मात् सर्वमिदं विकल्पमात्रमेव तदर्थस्य परिकल्पितरूपत्वात्। उक्तं च सूत्रे। न खलु पुनः सुभूते, धर्मास्तथा विद्यन्ते यथा बालपृथग्जना अभिनिविष्टा इति।

आध्यात्मिक बाह्य विकल्प्य वस्तु के भेद से विकल्पों की अनन्तता दिखलाते हुए कहा गया है:—जिस जिस विकल्प से जिस जिस वस्तु का विकल्प किया जाता है, आध्यात्मिक हो या बाह्य, यहां तक कि बुद्धधर्म भी, वह सब परिकल्पित स्वभाव है। इसका कारण बतलाया गया है कि—"वह विद्यमान नहीं है"। जो वस्तु विकल्प का विषय है, उसमें सत्ता का अभाव होने के कारण अविद्यमान है। अतः वह वस्तु परिकल्पित स्वभाव वाला है। हेतुप्रत्यय से प्राप्त स्वभाव वाला नहीं है। तथा एक ही वस्तु में और उसके अभाव में परस्पर विरुद्ध अनेक विकल्पों की प्रवृत्ति देखी जाती है। एक ही वस्तु अथवा उसके अभाव में परस्पर विरुद्ध अनेक स्वभाव युक्त नहीं है। अतः उनके विकल्पों के विषयभूत वस्तुओं के परिकल्पित होने के कारण सब कुछ विकल्प मात्र है। सूत्र में कहा गया है:—हे सुभूति-धर्म उस प्रकार के नहीं हैं, यथा मूढ पृथक् जन मानते हैं।

(२१)

परिकल्पितानन्तरं परतन्त्रस्वभावो वक्तव्य इति। अत आह—

'परतन्त्रस्वभावस्तु विकल्पः प्रत्ययोद्भवः'।

(२१)

परिकल्पित (वस्तु) के अनन्तर परतन्त्र स्वभाव को कहना चाहिए, अतः कहा गया है—

'परतन्त्रस्वभाववालाविकल्प प्रत्यय से उत्पन्न है'।

अत्र विकल्प इति परतन्त्रस्वरूपमाह। प्रत्ययोद्भव इत्यनेनापि परतन्त्राभिधानप्रवृत्तिनिमित्तमाह। तत्र परिकल्पः कुशलाकुशलाऽव्याकृतभेदभिन्नास् त्रैधातुकाश्चित्तचैत्ताः। यथोक्तम्। 'अभूतपरिकल्पस्तु

चित्तचैत्तास्त्रिधातुकाः' इति। परैर्हेतुप्रत्ययैस्तन्त्र्यत इति परतन्त्र उत्पाद्यत इत्यर्थः। स्वतोऽन्यहेतुप्रत्ययप्रतिबद्धात्मलाभ इति यावदुक्तं भवति। उक्तः परतन्त्रः।

यहां विकल्प शब्द से परतन्त्र स्वरूप अभिप्रेत है। प्रत्ययोद्भव शब्द से परतन्त्र नामक शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त बतलाया गया है। कुशल, अकुशल और अव्याकृत भेद से भिन्न त्रैधातुक चित्त चैतसिक परिकल्पित हैं। यथा कहा गया है—'त्रैधातुक चित्त चैतसिक अभूतपरिकल्प हैं'। स्वभिन्न हेतुप्रत्यय से उत्पन्न होते हैं, अतः परतन्त्र कहलाते हैं। (परतंत्र क्यों है ?) क्योंकि अपने से भिन्न हेतु प्रत्ययों पर उनका होना निर्भर है। इस प्रकार परतन्त्र को कह दिया गया।

परिनिष्पन्नः कथमित्यत आह :—

निष्पन्नस्तस्य पूर्वेण सदा रहितता तु या॥ २१॥

परिनिष्पन्न कैसा होता है, इसको बतलाया गया है—

'निष्पन्न वह इसलिए है कि वह पूर्व अर्थात् परिकल्पित ग्राहकग्राह्यभाव से सर्वदा रहित है॥ २१॥

अविकारपरिनिष्पत्त्या स परिनिष्पन्नः। तस्येति परतन्त्रस्य पूर्वेणेति परिकल्पितेन तस्मिन् विकल्पे ग्राह्य ग्राहकभावः परिकल्पितः। तथा हि तस्मिन् विकल्पे ग्राह्यग्राहकत्वम् अविद्यमानमेव परिकल्प्यत इति परिकल्पितमुच्यते। तेन ग्राह्यग्राहकेण परतन्त्रस्य सदा सर्वकालम् अत्यन्तरहितता या स परिनिष्पन्नस्वभावः।

निर्विकार सिद्ध होने के कारण वह परिनिष्पन्न कहलाता है। 'उसका' अर्थात् परतन्त्र का, 'पूर्व से' अर्थात् परिकल्पित से। उस विकल्प में ग्राह्यग्राहक-भाव परिकल्पित है क्योंकि उस विकल्प में अविद्यमान ही ग्राह्यग्राहकत्व की कल्पना की जाती है। इसलिए उसे परिकल्पित कहते हैं। इस प्रकार उस ग्राह्यग्राहक से परतन्त्र की जो सार्वकालिक अत्यन्तरहितता है, वही परिनिष्पन्न स्वभाव है।

(२२)

अत एव स नैवान्यो नानन्यः परतन्त्रतः।

अत एव स नैवेति परिकल्पितेन स्वभावेन परतन्त्रस्य सदा रहितता परिनिष्पन्नः। रहितता च धर्मता[1] धर्मान्नान्या नानन्या

1. C. धर्मता धर्मता धर्मान्।

युज्यते। परिनिष्पन्नश्च परतन्त्रधर्मतेत्यतः परतन्त्रात् परिनिष्पन्नो नान्यो नानन्य इति बोद्धव्यः। यदि हि परिनिष्पन्नः परतन्त्रादन्यः स्याद्, एवं न परिकल्पितेन परतन्त्रः शून्यः स्यात्। अथानन्य, एवमपि परिनिष्पन्नो न विशुद्ध्यालम्बनः स्यात्, परतन्त्रवन् संक्लेशात्मकत्वात्। एवं परतन्त्रश्च न क्लेशात्मकः स्यात्, परिनिष्पन्नाद् अनन्यत्वात् परिनिष्पन्नवत्।

(२२)

'अतः वह (परिनिष्पन्न) परतन्त्र से न भिन्न ही है, न अभिन्न ही'।

परिकल्पित स्वभाव से परतन्त्र की सदा रहितता ही परिनिष्पन्न शब्द से अभिप्रेत है। जो रहितता है, वही धर्मता है, वह धर्म से न भिन्न ही है, न अभिन्न ही। परिनिष्पन्न परतन्त्र की धर्मता है, अतः परतन्त्र से परिनिष्पन्न न भिन्न ही है, न अभिन्न ही, ऐसा जानना चाहिए। यदि परिनिष्पन्न परतन्त्र से भिन्न हो, तो वह परिकल्पित से शून्य न हो। यदि वह अभिन्न हो, तो वह परतन्त्र के समान संक्लेशात्मक होने के कारण विशुद्ध आलम्बन वाला न हो। इसी प्रकार परतन्त्र भी परिनिष्पन्न से अभिन्न होने के कारण परिनिष्पन्न के समान क्लेशात्मक न हो।

अनित्यतादिवद् वाच्यो—

नान्यो नानन्य इति वाक्यशेषः। यथा ह्यनित्यता दुःखतानात्मता च संस्कारादिभ्यो नान्या नानन्या। यदि संस्कारेभ्योऽनित्यता अन्या, एवं तर्हि संस्कारा नित्याः स्युः। अथानन्या एवमपि संस्काराः। प्रणष्टस्वभावरूपाः[1] स्युः अनित्यतावत्। एवं दुःखतादिष्वपि वाच्यम्।

"अनित्यादि के समान कहना चाहिए"।

न भिन्न है, न अभिन्न ही, यह वाक्यशेष है। जैसे अनित्यता, दुःखता एवं अनात्मता, संस्कारादि से न अन्य न अनन्य हैं। यदि संस्कारों से अनित्यता अन्य है, तो संस्कार भी नित्य हो जांय। यदि वह (संस्कारों से) अभिन्न है तो संस्कार भी अनित्यता के समान प्रध्वंसाभावरूप हो जांय। इसी प्रकार दुःखता आदि में भी कहना चाहिए।

यदि ग्राह्यग्राहकभावरहितः परतन्त्रः कथमसौ गृह्यते अगृह्यमाणो वा कथमस्तीति विज्ञायते। अत आह।'—

—नादृष्टेऽस्मिन् स दृश्यते ॥ २२ ॥

---

1. C. प्रध्वंसाभावरूपाः।

यदि परतन्त्र ग्राह्यग्राहक भाव से रहित है तो उसका ग्रहण कैसे होता है तथा विना ग्रहण हुए उसके अस्तित्व का ज्ञान कैसे होता है ? अतः कहा गया है—

इसको विना देखे उसका दर्शन नहीं होता है ॥ २२ ॥

नादृष्टेऽस्मिन्निति परिनिष्पन्नस्वभावे स दृश्यत इति परतन्त्रः स्वभावः। निर्विकल्पलोकोत्तरज्ञानदृश्ये परिनिष्पन्ने स्वभावे अदृष्टे अप्रतिविद्धे असाक्षात्कृते तत्पृष्ठलब्धशुद्धलौकिकज्ञानगम्यत्वात्, परतन्त्रोऽन्येन ज्ञानेन न गृह्यते। अतः परिनिष्पन्ने अदृष्टे परतन्त्रो न दृश्यते।

न पुनर् लोकोत्तरज्ञानपृष्ठलब्धेनापि ज्ञानेन न दृश्यते। यथा निर्विकल्पप्रवेशायां धारण्यामुक्तम्। तत्पृष्ठलब्धेन ज्ञानेन मायामरीचिस्वप्नप्रतिश्रुत्कोदकचन्द्रनिर्मितसमान् सर्वधर्मान् प्रत्येतीति।

अत्र च धर्माः परतन्त्रसंगृहीता अभिप्रेताः। परिनिष्पन्नश्चाकाशवद् एकरसः। ज्ञानं च यथोक्तं निर्विकल्पेन ज्ञानेनाकाशसमतायां सर्वधर्मान् पश्यतीति परतन्त्रधर्माणां तथतामात्रदर्शनात्।

विना परिनिष्पन्न स्वभाव का दर्शन प्राप्त किये परतन्त्र स्वभाव का दर्शन नहीं होता। निर्विकल्पक लोकोत्तरज्ञान से देखने योग्य परिनिष्पन्न स्वभाव का विना दर्शन, प्रतिवेध या साक्षात्कार किये उस परतन्त्र का ज्ञान नहीं होता है। क्योंकि उस लोकोत्तरज्ञान के अनन्तर प्राप्त होने वाले शुद्ध लौकिक ज्ञान से वह गम्य है। अतः परिनिष्पन्न को विना देखे हुए परतन्त्र का दर्शन नहीं होता है।

यह बात नहीं कि लोकोत्तरज्ञान के बाद प्राप्त होने वाले ज्ञान से भी उसका दर्शन नहीं होता। जैसा कि निर्विकल्पप्रवेशधारणी में कहा गया है। 'उसके अनन्तर लब्ध ज्ञान से सभी धर्मों को माया मरीचि, स्वप्न प्रतिध्वनि जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा के समान (असार) समझता है'।

यहां धारणी में 'धर्म' परतन्त्र से संगृहीत लिए गये हैं। परिनिष्पन्न आकाश के समान एक रस है। ज्ञान शब्द का अर्थ लोकोत्तरज्ञान पृष्ठलब्ध लौकिकज्ञान है, जो पहले कहा जा चुका है। 'निर्विकल्प ज्ञान से सभी धर्मों को आकाश के समान देखता है क्योंकि उसमें परतन्त्र धर्मों की वास्तविकता का दर्शन होता है।

(२३)

यदि द्रव्यमेव परतन्त्रः कथं सूत्रे सर्वधर्मा निःस्वभावा अनुत्पन्ना अनिरुद्धा इति निर्दिश्यन्ते। नास्ति विरोधः यस्मात्—

त्रिविधस्य स्वभावस्य त्रिविधां निःस्वभावताम्।
संधाय सर्वधर्माणां देशिता निःस्वभावता ॥ २३ ॥

(२३)

यदि परतन्त्र धर्म वास्तविक होते, तो सूत्र में सभी धर्म निःस्वभाव, अनुत्पन्न तथा अनिरुद्ध क्यों कहे जाते। (सूत्र का) विरोध नहीं है क्योंकि—

'तीन प्रकार के स्वभाव की तीन प्रकार की निःस्वभावता को देखकर सभी प्रकार के धर्मों की निःस्वभावता का उपदेश दिया गया है ॥ २३ ॥

त्रय एव स्वभावा न चतुर्थोऽस्तीति ज्ञापनार्थं संख्यानिर्देशः। स्वेन स्वेन लक्षणेन विद्यमानवद् भवतीति[1]। त्रिविधा निःस्वभावता लक्षण-निःस्वभावता उत्पत्तिनिःस्वभावता परमार्थनिःस्वभावता च। सर्वधर्माः परिकल्पितपरतन्त्रपरिनिष्पन्नात्मकाः।

तीन प्रकार के ही स्वभाव हैं चौथे प्रकार के नहीं, इस बात को बतलाने के लिए संख्या निर्देश है। अपने अपने लक्षण से (सभी धर्म) विद्यमान के समान हैं। निःस्वभावता तीन प्रकार की है—लक्षणनिःस्वभावता, उत्पत्ति-निःस्वभावता तथा परमार्थनिःस्वभावता। 'सभी धर्म' से परिकल्पित परतन्त्र तथा परिनिष्पन्नात्मक धर्म समझना चाहिए।

(२४)

इदानीं त्रिविधस्य स्वभावस्य या यस्य निःस्वभावता तां तस्य प्रदर्शयन्नाह—

प्रथमो लक्षणेनैव निःस्वभावोऽपरः पुनः।
न स्वयं भाव एतस्येत्यपरा निःस्वभावता ॥ २४ ॥

(२४)

अब तीन प्रकार के स्वभावों में जिसकी जो निःस्वभावता है, उसको दिखलाते हुए कहा गया है—

प्रथम तो लक्षण से निःस्वभाव है, दूसरे का स्वयं भाव नहीं होने के कारण उत्पत्ति निःस्वभाव है ॥ २४ ॥

(२५)

धर्माणां परमार्थश्च स यतस्तथतापि सः।

(२५)

'धर्मों का वही वास्तविक स्वरूप है इसलिए (परिनिष्पन्न में) परमार्थ-निःस्वभावता है। वही तथता है'।

---

१. C. भवतीति स्वभावः।

प्रथमः परिकल्पितः स्वभावः। अयं च लक्षणेनैव निःस्वभावः तल्लक्षणस्योत्प्रेक्षितत्वात्। रूपलक्षणं[1] रूपम् अनुभवलक्षणा वेदनेत्यादि। अतश्च स्वरूपाभावात् खपुष्पवत् स्वरूपेणैव निःस्वभावः। अपरः पुनरिति परतन्त्रस्वभावः। न स्वयंभाव एतस्य मायावत् परप्रत्ययेनोत्पत्तेः। अतश्च यथा प्रख्याति तथास्योत्पत्तिर्नास्तीति अतोऽस्य उत्पत्तिनिःस्वभावतेत्युच्यते।

पहला परिकल्पित स्वभाव है। यह लक्षण से उत्प्रेक्षित होने के कारण लक्षण से ही निःस्वभावता है। रूपलक्षणवाला रूप है, अनुभवलक्षणवाली वेदना है, आदि। अतः स्वरूप के नहीं होने से आकाशकुसुम के समान स्वरूप से ही निःस्वभाव है। दूसरा पुनः परतन्त्र स्वभाव है। इसकी अपनी सत्ता नहीं है, माया के समान दूसरे के कारण से इसकी उत्पत्ति होती है। जैसा यह ज्ञात होता है, वैसी उसकी उत्पत्ति नहीं है, अतः इसकी उत्पत्तिनिःस्वभावता कही जाती है।

धर्माणां परमार्थश्च स यतस्तथतापि स इति। परमं हि लोकोत्तरज्ञानं, निरुत्तरत्वात्तस्यार्थः परमार्थः। अथ वा आकाशवत् सर्वत्रैकरसार्थेन वैमल्याविकारार्थेन च परिनिष्पन्नः स्वभावः परमार्थ उच्यते। स यस्मात् परिनिष्पन्नः स्वभावः सर्वधर्माणां परतन्त्रात्मकानां परमार्थः तद्धर्मतेति कृत्वा तस्मात् परिनिष्पन्न एव स्वभावः परमार्थनिःस्वभावता परिनिष्पन्नस्याभावस्वभावत्वात्। किं पुनः परमार्थाभिधानेनैव परिनिष्पन्नोऽभिधातव्यः, नेत्याह। किं तर्हि? तथतापि सः। अपिशब्दान्न केवलं तथताशब्देनैवाभिधातव्यः। किं तर्हि? यावन्तो धर्मधातुपर्यायाः सर्वैस्तैरप्यभिधातव्य इति।

'धर्मों का जो परमार्थ रूप है, वही तथता है'। परम का अर्थ लोकोत्तरज्ञान है, उसके आगे कोई अन्य ज्ञान न होने के कारण उससे गम्य जो अर्थ है, वह परमार्थ कहलाता है। अथवा आकाश के समान सर्वत्र एक रस विमल तथा निर्विकार होने के कारण परिनिष्पन्न स्वभाव को परमार्थ कहते हैं। यस्मात् परिनिष्पन्न स्वभाव ही सभी परतन्त्रात्मक धर्मों का परमार्थ है, वही उनकी धर्मता है, अतः परिनिष्पन्न स्वभाव ही परमार्थनिःस्वभावता है क्योंकि परिनिष्पन्न वस्तुतः अभाव स्वभाव वाला हैं। क्या परिनिष्पन्न को केवल परमार्थ शब्द से ही कहना चाहिए? (इसका उत्तर है) नहीं। तब किस शब्द से कहा जा सकता है? वह तथता भी है। 'अपि' शब्द से (यह अभिप्राय द्योतित होता

१. C. रूपणलक्षणं।

है कि) केवल तथता शब्द से ही उसका कथन नहीं करना चाहिए। तब क्या? जितने भी धर्मधातु के पर्यायवाची शब्द हैं, वे सभी उसके लिए उपयुक्त हैं।

सर्वकालं तथाभावात्—

तथता। तथा हि पृथग्जनशैक्षाशैक्षावस्थासु सर्वकालं तथैव भवति, नान्यथेति तथतेत्युच्यते[1]।

'सभी काल में उसी रूप में बने रहने के कारण (वह तथता है)' है।

पृथग्जन, शैक्ष तथा अशैक्षों की अवस्थाओं में तथा सभी काल में वह वैसा ही रहता है, किसी अन्य रूप में नहीं, इसलिए (वह) तथता कहलाता है।

कि पुनस्तथता तत्परिनिष्पन्न एव विज्ञप्तिमात्रता, उतान्या विज्ञप्तिमात्रता? अत आह—

—सैव विज्ञप्तिमात्रता॥ २५॥

जो वह तथता है, क्या वही परिनिष्पन्न विज्ञप्तिमात्रता है या विज्ञप्तिमात्रता अन्य है? इसको दर्शाते हुए कहा गया है—

'वही ही विज्ञप्तिमात्रता है'॥ २५॥

अतिविशुद्धलक्षणावबोधाद्। यथोक्तम्—

नाम्नि तिष्ठति तच्चित्तं तदा तन्मात्रदर्शनात्।
नाम्नि स्थानाच्च विज्ञप्तावुपलम्भः प्रहीयते॥
नोपलम्भं तदा धातुं स्पृशते भावनान्वयात्।
सर्वावरणविमोक्षं विभुत्वं लभते तदा॥

इति। सैव विज्ञप्तिमात्रतेत्यनेन वचनेनाभिसमय उक्तः।

क्योंकि उसमें अति विशुद्ध लक्षण का ज्ञान होता है। जैसा कि कहा गया है कि उस समय केवल उतने ही मात्र का दर्शन होने से नाम में चित्त स्थित होता है। नाम में (चित्त के) स्थित होने से विज्ञप्ति की उपलब्धि नष्ट हो जाती है। भावना के कारण उस समय चित्त उपलम्भ धातु को स्पर्श नहीं करता। तब सभी आवरणों से मुक्त हो विभुत्व को प्राप्त करता है। 'वही ही विज्ञप्तिमात्रता है'—इस वचन से सिद्धान्त का यथार्थ कथन किया गया है।

(२६)

यदि विज्ञप्तिमात्रमेवेदं कस्माच् चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसस्पर्शनैः[2] रूपशब्दगन्धरसस्पर्शान् गृह्णातीत्यत आह—

यावद् विज्ञप्तिमात्रत्वे विज्ञानं नावतिष्ठते।
ग्राहद्वयस्यानुशयस्तावन्न विनिवर्तते॥ २६॥

---

१. C. —तथतावत्। २. जिह्वाकायैः।

(२६)

जब सब कुछ विज्ञप्तिमात्र ही है तो क्यों चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय द्वारा रूप, शब्द, गन्ध, रस तथा स्पष्टव्य का ग्रहण होता है? इस प्रश्न के समाधान में कहा गया है—

'जब तक विज्ञान विज्ञप्तिमात्रता में स्थित नहीं होता है, तब तक ग्राह्य और ग्राहक वासना नष्ट नहीं होती है' ॥ २६ ॥

अथ वा यास्ताः कर्मवासना ग्राहद्वयवासनासहिताः क्षीणे पूर्वविपाकेऽन्यद्विपाकं जनयन्तीत्युक्तं, तस्मात् कथं प्रहाणमप्रहाणं चेत्यत आह। यावद्विज्ञप्तिमात्रत्वे विज्ञानं नावतिष्ठत इति विस्तरः।

अथवा (जब कि यह कहा जा चुका है कि) 'कर्मवासनायें दो ग्राहों की वासना से युक्त होकर पूर्व विपाक के नष्ट होने पर दूसरे विपाक को उत्पन्न करती हैं' तो (उनका) प्रहाण तथा अप्रहाण कैसे संभव है? इसका उत्तर है कि 'जब तक विज्ञान विज्ञप्तिमात्रता में स्थित नहीं हो जाता है, इत्यादि (तब तक दोनों ग्राहों की वासना निहत नहीं होती है)

यावच्चित्तधर्मतायां विज्ञप्तिमात्रसंशब्दितायां विज्ञानं नावतिष्ठति किं तर्हि ग्राह्यग्राहकोपलम्भे चरति।

ग्राहद्वयं ग्राह्यग्राहो ग्राहकग्राहश्च। तस्यानुशयस्तदाहितम् अनागतग्राहद्वयोत्पत्तये बीजम् आलयविज्ञाने।

यावद् अद्वयलक्षणे विज्ञप्तिमात्रे योगिनश्चित्तं न प्रतिष्ठितं भवति, तावद् ग्राह्यग्राहकानुशयो न विनिवर्तते न प्रहीयत इत्यर्थः। अत्र च बहिरुपलम्भाप्रहाणेनाध्यात्मिकोपलम्भाप्रहाणं दर्शितमिति। अतोऽस्यैवं भवति अहं चक्षुरादिभिः रूपादीन् गृह्णामीति।

जब तक विज्ञप्तिमात्र शब्द से वाच्य चित्तधर्मता में विज्ञान स्थित नहीं होता, अपितु ग्राह्यग्राहकोपलम्भ में विचरता है।

ग्राह्यग्राह तथा ग्राहकग्राह को ग्राहद्वय कहते हैं। उसका अनुशय का अर्थ है उसके द्वारा आलयविज्ञान में अनागत दो ग्राहों की उत्पत्ति के लिए डाला गया बीज।

जब तक अद्वैत लक्षणवाली विज्ञप्तिमात्रता में योगी का चित्त स्थित नहीं हो जाता है, तब तक ग्राह्य तथा ग्राहक की वासना प्रहीण नहीं होती है (यही कारिका का अर्थ है)। जब तक बाह्य उपलब्धि का प्रहाण नहीं होता है, तब तक आध्यात्मिक उपलब्धि का प्रहाण नहीं होता है, यही इससे दर्शाया गया। अतः उसको (जिसका उपलंभ

ग्रहाण नहीं हुआ है) ऐसा होता है कि—मैं चक्षु आदि (इन्द्रियों) से रूपादि (विषयों) को ग्रहण करता हूँ ।

(२७)

इदमिदानीं वक्तव्यं किम् अर्थरहितचित्तमात्रोपलम्भात् चित्तधर्मतावस्थानं नेत्याह । किं तर्हि—

विज्ञप्तिमात्रमेवेदमित्यपि ह्युपलम्भतः ।
स्थापयन्नग्रतः किंचित् तन्मात्रेनावतिष्ठते ॥ २७ ॥

इति । अथ वा यः पुनराभिमानिकः श्रुतमात्रकेण जानीयाद् अहं विज्ञप्तिमात्रतायां शुद्धायां स्थित इति, तदग्रहव्युदासार्थमाह—विज्ञप्तिमात्रमेवेदमित्यपि ह्युपलम्भत इत्यादि । विज्ञप्तिमात्रमेवेदम् अर्थरहितं, न बाह्योऽर्थोऽस्तीति एवमुपलम्भतो ग्रहणतः चित्रीकरणत इत्यर्थः । अग्रत इत्यभिमुखम् । स्थापयन्निति यथाश्रुतं मनसा । बहुप्रकारत्वात् योगाचारालम्बनानां किंचिदित्याह । अस्थिसंकलिकं वा नीलकं वापि पूयकं वा विपड्डुमकं वा व्याध्मातकादिकं वा । तन्मात्रे नावतिष्ठते विज्ञानोपलम्भाप्रहाणात् ।

(२७)

अब यहां यह बतलाना चाहिए कि क्या विषयरहित चित्तमात्र की उपलब्धि से चित्तधर्मता की अवस्थिति होती है ? (इसका उत्तर है कि) नहीं । तब क्या है ?

यह विज्ञप्तिमात्र हैं, (ऐसा कहने वाला भी) आगे किसी पदार्थ को रख कर उसकी उपलब्धि करते हुए ही (ऐसा) कहता है । अतः वह विज्ञप्तिमात्रता में स्थित नहीं रहता है ॥ २७ ॥

अथवा जो आभिमानिक विज्ञप्तिमात्रता के दर्शन को सुनकर ही समझ ले कि 'मैं शुद्धविज्ञप्तिमात्रता में स्थित हो गया हूँ', उसके इस आग्रह के निराकरण के लिए कहते हैं :—यह विज्ञप्तिमात्र है, इस उपलंभ से, इत्यादि ।

'यह सब कुछ विज्ञप्तिमात्र ही है, यह भी किसी बाह्यवस्तु की उपलब्धि होने पर ज्ञान होता है' । यह सब कुछ विषयरहित विज्ञप्तिमात्र ही है, बाह्य पदार्थ नहीं हैं, ऐसी विषयोपलब्धि होने से, या ग्रहण से (यह ज्ञात होता है), ऐसा जानना चाहिए । 'अग्रतः' का अर्थ है सामने । 'स्थापयन्' का अर्थ है मन से रखते हुए । योगाचार के आलम्बनों के बहुत प्रकारवाला होने से 'उनमें

से कुछ'—यह पद कहा गया। अस्थिसंकलिक या नीलक या पूयक या विपड्डुमक या व्याधमातक इत्यादि। विज्ञान की उपलब्धि का प्रहाण नहीं होने से विज्ञप्तिमात्र में अवस्थिति नहीं होती है।

(२८)

कदा पुनर्विज्ञानग्राहस्य प्रहाणं चित्तमात्रतायां वा प्रतिष्ठितो भवतीत्यत आह—

यदालम्बनं विज्ञानं नैवोपलभते तदा।
स्थितं विज्ञानमात्रत्वे ग्राह्याभावे तदग्रहात्॥ २८॥

इति। यस्मिन् काले देशनालम्बनं अववादालम्बनं प्राकृतं वा रूपशब्दाद्यालम्बनं विज्ञानं बहिश्चित्तात् नोपलभते न पश्यति न गृह्णाति नाभिनिविशते, यथाभूतार्थदर्शनात् न तु जात्यन्धवत्, तस्मिन् काले विज्ञानग्राहस्य प्रहाणं स्वचित्तधर्मतायां च प्रतिष्ठितो भवति। अत्रैव कारणमाह। ग्राह्याभावे तदग्रहादिति। ग्राह्ये सति ग्राहको भवति न तु ग्राह्याभाव इति। ग्राह्याभावे ग्राहकाभावमपि प्रतिपद्यते न केवलं ग्राह्याभावम्। एवं हि सममनालम्ब्यालम्बकं[1] निर्विकल्पं लोकोत्तरं ज्ञानमुत्पद्यते। ग्राह्यग्राहकाभिनिवेशानुशयाः प्रहीयन्ते, स्वचित्तधर्मतायां च चित्तमेव स्थितं भवति।

(२८)

पुनः विज्ञानग्राह का प्रहाण तथा चित्तमात्रता में स्थिति कब होती है, इसे (दर्शाते हुए) कहा गया है :—

'जब विज्ञान आलम्बन का ग्रहण नहीं करता है, उस समय विज्ञप्तिमात्रता में चित्त स्थित हो जाता है क्योंकि ग्राह्यविषय के अभाव में ग्राहकविज्ञान का भी ग्रहण नहीं होता है'॥ २८॥

जिस समय देशना या अववाद के आलम्बन से उत्पन्न होने वाले या प्राकृत रूपशब्दादि आलम्बनों से उत्पन्न होने वाले विज्ञान को चित्त से बाहर नहीं ग्रहण करता, यथाभुत वस्तु के दर्शन के प्रभाव से, न कि जात्यन्ध के समान असमर्थता के कारण, उससमय विज्ञानग्राह का प्रहाण हो जाता है तथा चित्तधर्मता में अवस्थिति हो जाती है। यहां इसका कारण बतलाया गया है। ग्राह्यके के अभाव में उसके ग्राहक का ग्रहण नहीं होता है। ग्राह्य के होने पर ग्राहक होता है, ग्राह्य के अभाव में नहीं। (अतः) ग्राह्य के अभाव में ग्राहक के अभाव की प्राप्ति होती है, केवल ग्राह्य के अभाव की ही नहीं। इस प्रकार

१. समसमा।

आलम्ब्य और आलम्बक से रहित निर्विकल्पक लोकोत्तर ज्ञान उत्पन्न होता है। ग्राह्य गाहक के आग्रह की वासनायें नष्ट हो जाती हैं, स्वचित्तधर्मता में चित्त स्थित हो जाता है।

(२६)

यदैवं विज्ञप्तिमात्रतायां चित्तमवस्थितं भवति, तदा कथं व्यपदिश्यत इत्याह—

अचित्तोऽनुपलम्भोऽसौ ज्ञानं लोकोत्तरं च तत् ।
आश्रयस्य परावृत्तिर् द्विधा दौष्ठुल्यहानितः ॥ २९ ॥

(२९)

जब इस प्रकार विज्ञप्तिमात्रता में चित्त अवस्थित हो जाता है, तब कैसी स्थिति है—उसको दर्शाते हुए कहा गया है :—

"चित्त तथा उपलब्धि (दोनों से) रहित अवस्था की प्राप्ति होती है। वही लोकोत्तर ज्ञान है। दो प्रकार के दौष्ठुल्यों की हानि से आश्रय अर्थात् आलय विज्ञान की परावृत्ति हो जाती है" ॥ २९ ॥

(३०)

स एवानास्रवो धातुरचिन्त्यः कुशलो ध्रुवः ।
सुखो विमुक्तिकायोऽसौ धर्माख्योऽयं महामुनेः ॥ ३० ॥

इति। तदनेन श्लोकद्वयेन दर्शनमार्गमारभ्योत्तरविशेषगत्या फलसंपत्तिरुद्भाविता विज्ञप्तिमात्रप्रविष्टयोगिनः। तत्र ग्राहकचित्ताभावात् ग्राह्यार्थानुपलम्भाच्च अचित्तोऽनुपलम्भोऽसौ। अनुचितत्वात् लोके समुदाचाराभावात् निर्विकल्पत्वाच्च लोकादुत्तीर्णमिति ज्ञानं लोकोत्तरं च तदिति। तस्य ज्ञानस्यानन्तरमाश्रयस्य परावृत्तिर्भवतीति ज्ञापनार्थमाह—'आश्रयस्य परावृत्तिरिति'।

(३०)

"वही अनाश्रव धातु है, जो अचिन्त्य कुशल, ध्रुव तथा सुखस्वरूप विमुक्तिकाय है। यही महामुनि (बुद्ध) का धर्मकाय है" ॥ ३० ॥

इन दोनों श्लोकों से विज्ञप्तिमात्रता में प्रविष्ट योगी के दर्शन मार्ग से प्रारम्भ करके उत्तर विशेष गति से फलसम्पत्ति की विशेष उद्भावना की गयी है। उसमें ग्राहकचित्त के अभाव हो जाने से तथा ग्राह्यविषय की अनुपलब्धि होने से, वह अचित्त तथा अनुपलम्भ है। (लोक व्यवहार के) अयोग्य होने से उसका लोक में व्यवहार नहीं होता है, तथा निर्विकल्पक होने से वह लोक से उत्तीर्ण है, अतः कहा जाता है कि वह लोकोत्तर ज्ञान है। उस ज्ञान के अनन्तर आश्रय (आलय) की परावृत्ति हो जाती है, इसको दर्शाने के लिए कहा गया है—"आश्रय परावृत्ति हो जाती है"।

आश्रयोऽत्र सर्वबीजकमालयविज्ञानम्। तस्य परावृत्तिर्या दौष्ठुल्य-द्वयवासनाभावेन निवृत्तौ सत्यां कर्मण्यताधर्मकायाद्वयज्ञानभावेन परावृत्तिः। सा पुनराश्रयपरावृत्तिः कस्य प्रहाणात् प्राप्यते ? अत आह—"द्विधा दौष्ठुल्यहानितः।" द्विधेति, क्लेशावरणदौष्ठुल्यं ज्ञेया-वरणदौष्ठुल्यं च। दौष्ठुल्यम् आश्रयस्याकर्मण्यता। तत् पुनः क्लेश-ज्ञेयावरणयोर् बीजम्। सा पुनराश्रयपरावृत्तिः श्रावकादिगतदौष्ठुल्य-हानितश्च प्राप्यते।

यहां आश्रय का अर्थ है-सभी धर्मों का बीज आलयविज्ञान। उसकी परा-वृत्ति का अर्थ है द्विविध दौष्ठुल्यवासनाओं के अभाव से उसकी निवृत्ति होने पर कर्मण्यता और धर्मकाय के ऐक्यभाव के ज्ञान से परिवर्तन होना। वही पुनः आश्रय परावृत्ति है। किसके प्रहाण से प्राप्त होती है? इसको दर्शाया गया है—कि दो प्रकार के दौष्ठुल्य की हानि से। दो प्रकार से अभिप्राय है-क्लेशावरण-दौष्ठुल्य तथा ज्ञेयावरणदौष्ठुल्य। आश्रय की अकर्मण्यता को दौष्ठुल्य कहते है। वही क्लेशावरण एवं ज्ञेयावरण का बीज है। पुनः वह आश्रयपरावृत्ति श्रावकादि दौष्ठुल्य की हानि से प्राप्त होती है।

यदाह—विमुक्तिकाय इति, बोधिसत्त्वगतदौष्ठुल्यहानितश्च प्राप्यते। यदाह—'धर्माख्योऽयं' महामुनेरिति' द्विधा आवरणभेदेन सोत्तरा निरुत्तरा च आश्रयपरावृत्तिरुक्ता।

जो विमुक्तिकाय कहा गया है, वह बोधिसत्त्वगत दौष्ठुल्य की हानि से प्राप्त होता है। जो महामुनि का धर्मकाय कहा गया है वह आवरण भेद से सोत्तरा, निरुत्तरा दो प्रकार की आश्रयपरावृत्ति है।

---

१. A. अपि।

अत्र गाथा—

ज्ञेयमादानविज्ञानं द्वयावरणलक्षणम् ।
सर्वबीजं क्लेशबीजं बन्धस्तत्र द्वयोर्द्वयोः ॥

इति । [1]श्रावकबोधिसत्त्वयोः । आद्यस्य क्लेशबीजं, इतरस्य द्वयावरणबीजम् । तदुद्घातात् सर्वज्ञतावाप्तिर्भवतीति । 'स एवानास्रवो धातुरिति' स एवाश्रयपरावृत्तिरूपः, अनास्रवो धातुरित्युच्यते, निर्दौष्ठुल्यत्वात् । स त्वास्रवविगत इत्यनास्रवः ।

यहां गाथा है—

'द्वयावरण लक्षणवाला आलयविज्ञान को जानना चाहिये । यही सब का बीज तथा क्लेशों का बीज है, जिसके कारण (श्रावक और बोधिसत्व) दोनों को बन्धन होता है' ।

श्रावक तथा बोधिसत्त्व को । पहले को क्लेशबीज तथा दूसरे को द्वय आवरणबीज होते हैं । उनके नाश से सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है 'वही अनाश्रव धातु है' (इस पद का अर्थ है) कि वही आश्रयपरावृत्ति रूप होने से, दौष्ठुल्यों से रहित होने से अनाश्रव धातु कहलाता है । (इसका अभिप्राय यह है कि आलयविज्ञान अनाश्रवधातु के रूप में परिवर्तित हो जाता है)। वह आश्रव से रहित होने के कारण अनाश्रव है ।

आर्यधर्महेतुत्वाद् धातुः । हेत्वर्थो ह्यत्र धातुशब्दः । अचिन्त्यस्तर्कागोचरत्वात् प्रत्यात्मवेद्यत्वात् दृष्टान्ताभावाच्च । कुशलो विशुद्धालम्बनत्वात् क्षेमत्वात् अनास्रवधर्ममयत्वाच्च । ध्रुवो नित्यत्वात् अक्षयतया । सुखो नित्यत्वादेव । यदनित्यं तद्दुःखम् । अयं च नित्य इति, अस्मात् सुखः ।

आर्यधर्म का हेतु होने से धातु है । धातु शब्द यहां हेतु के अर्थ में है । तर्क से अगोचर होने से, प्रत्यात्मवेद्य होने से, उसके दृष्टान्त का अभाव होने से, वह अचिन्त्य है । विशुद्ध आलम्बनवाला होने से, क्षेम होने से और अनाश्रव धर्ममय होने से कुशल है । नित्य तथा अविनाशी होने से ध्रुव है । नित्य होने से सुखस्वरूप है । जो अनित्य है, वह दुःख है । यह नित्य हैं, अतः सुख है ।

क्लेशावरणप्रहाणात् श्रावकाणां विमुक्तिकायः । स एवाश्रयपरावृत्तिलक्षणो धर्माख्योऽप्युच्यते महामुनेः । भूमिपारमितादिभावनया

१. C. द्वयोरिति श्रावक ।

क्लेशज्ञेयावरणप्रहाणात् आश्रयपरावृत्तिसमुदागमात्, महामुनेर्धर्मकाय इत्युच्यते। संसार[1]परित्यागात् यद[2]नुपसंक्लेशत्वात् सर्वधर्मविभुत्वलाभतश्च धर्मकाय इत्युच्यते। महामुनेरिति परममौनेययोगात् बुद्धो भगवान् महामुनिरिति।

त्रिंशिकाविज्ञप्तिभाष्यं समाप्तम्॥

कृतिराचार्यस्थिरमतेः॥

क्लेशावरण के प्रहाण से श्रावकों का वह विमुक्तिकाय है। वही आश्रयपरावृत्ति लक्षणवाला महामुनि बुद्ध का धर्मकाय भी कहलाता है। भूमिपारमितादि की भावना से क्लेश तथा ज्ञेयावरण के प्रहाण से, आश्रयपरावृत्ति के समुदागम से (वह) महामुनि (बुद्ध) का धर्मकाय कहलाता है। संसार के परित्याग से, क्लेशों का अभाव हो जाने से, सभी धर्मों में व्यापकता की प्राप्ति होने से, धर्मकाय कहलाता है। 'महामुनि का' (धर्मकाय, ऐसा जो कहा गया है, उसमें महामुनि शब्द से) परममौनेय के योग से भगवान बुद्ध ही (अभिप्रेत हैं)।

त्रिंशिका विज्ञप्तिभाष्य समाप्त, जो आचार्य
स्थिरमति की कृति है॥

---

१. C. संसारापरि। २. C. तदनु।

अथ त्रिंशिकाविज्ञप्तिकारिकाः

आत्मधर्मोपचारो हि विविधो यः प्रवर्तते।
विज्ञानपरिणामेऽसौ परिणामः स च त्रिधा॥ १॥
विपाको मननाख्यश्च विज्ञप्तिर्विषयस्य च।
तत्रालयाख्यं विज्ञानं विपाकः सर्वबीजकम्॥ २॥
असंविदितकोपादिस्थानविज्ञप्तिकं च तत्।
सदा स्पर्शमनस्कारवित्संज्ञाचेतनान्वितम्॥ ३॥
उपेक्षा वेदना तत्रानिवृत्ताव्याकृतं च तत्।
तथा स्पर्शादयस्तच्च वर्तते स्रोतसौघवत्॥ ४॥
तस्य व्यावृत्तिरर्हत्वे तदाश्रित्य प्रवर्तते।
तदालम्बं मनोनाम विज्ञानं मननात्मकम्॥ ५॥
क्लेशैश्चतुर्भिः सहितं निवृताव्याकृतैः सदा।
आत्मदृष्ट्यात्ममोहात्ममानात्मस्नेहसंज्ञितैः॥ ६॥
यत्रजस्तन्मयैरन्यैः स्पर्शाद्यैश्चार्हतो न तत्।
न निरोधसमापत्तौ मार्गे लोकोत्तरे न च॥ ७॥
द्वितीयः परिणामोऽयं तृतीयः षड्विधस्य या।
विषयस्योपलब्धिः सा कुशलाकुशलाद्वया॥ ८॥
सर्वत्रगैर्विनियतैः कुशलैश्चैतसैरसौ।
संप्रयुक्ता तथा क्लेशैरुपक्लेशैस्त्रिवेदना॥ ९॥
आद्याः स्पर्शादयश्छन्दाधिमोक्षस्मृतयः सह।
समाधिधीभ्यां नियताः श्रद्धाथ ह्रीरपत्रपा॥ १०॥
अलोभादि त्रयं वीर्यं प्रश्रब्धिः साप्रमादिका।
अहिंसा कुशलाः क्लेशा रागप्रतिघमूढयः॥ ११॥
मानदृग्विचिकित्साश्च क्रोधोपनहने पुनः।
म्रक्षः प्रदाश ईर्ष्याथ मात्सर्यं सह मायया॥ १२॥
शाठ्यं मदोऽविहिंसा ह्रीरत्रपा स्त्यानमुद्धवः।
आश्रद्ध्यमथ कौसीद्यं प्रमादो मुषिता स्मृतिः॥ १३॥
विक्षेपोऽसंप्रजन्यं च कौकृत्यं मिद्धमेव च।
वितर्कश्च विचारश्चेत्युपक्लेशा द्वये द्विधा॥ १४॥
पञ्चानां मूलविज्ञाने यथाप्रत्ययमुद्भवः।
विज्ञानानां सह न वा तरङ्गाणां यथा जले॥ १५॥

मनोविज्ञानसंभूतिः सर्वदासंज्ञिकादृते ।
समापत्तिद्वयान्मिद्धान्मूर्छनादप्यचित्तकात् ॥ १६ ॥
विज्ञानपरिणामोऽयं विकल्पो यद्विकल्प्यते ।
तेन तन्नास्ति तेनेदं सर्वं विज्ञप्तिमात्रकम् ॥ १७ ॥
सर्वबीजं हि विज्ञानं परिणामस्तथा तथा ।
यात्यन्योन्यवशाद् येन विकल्पः स स जायते ॥ १८ ॥
कर्मणो वासना ग्राहद्वयवासनया सह ।
क्षीणे पूर्वविपाकेऽन्यद्विपाकं जनयन्ति तत् ॥ १६ ॥
येन येन विकल्पेन यद्यद् वस्तु विकल्प्यते ।
परिकल्पित एवासौ स्वभावो न स विद्यते ॥ २० ॥
परतन्त्रस्वभावस्तु विकल्पः प्रत्ययोद्भवः ।
निष्पन्नस्तस्य पूर्वेण सदा रहितता तु या ॥ २१ ॥
अत एव स नैवान्यो नानन्यः परतन्त्रतः ।
अनित्यतादिवद् वाच्यो नादृष्टेऽस्मिन् स दृश्यते ॥ २२ ॥
त्रिविधस्य स्वभावस्य त्रिविधां निःस्वभावताम् ।
संधाय सर्वधर्माणां देशिता निःस्वभावता ॥ २३ ॥
प्रथमो लक्षणे नैव निःस्वभावोऽपरः पुनः ।
न स्वयंभाव एवस्येत्यपरा निःस्वभावता ॥ २४ ॥
धर्माणां परमार्थश्च स यतस्तथतापि सः ।
सर्वकालं तथाभावात् सैव विज्ञप्तिमात्रता ॥ २५ ॥
यावद्विज्ञप्तिमात्रत्वे विज्ञानं नावतिष्ठति ।
ग्राहद्वयस्यानुशयस्तावन्न विनिवर्तते ॥ २६ ॥
विज्ञप्तिमात्रमेवेदमित्यपि ह्युपलम्भतः ।
स्थापयन्नग्रतः किंचित् तन्मात्रे नावतिष्ठते ॥ २७ ॥
यदालम्बनं विज्ञानं नैवोपलभते तदा ।
स्थितं विज्ञानमात्रत्वे ग्राह्याभावे तदग्रहात् ॥ २८ ॥
अचित्तोऽनुपलम्भोऽसौ ज्ञानं लोकोत्तरं च तत् ।
आश्रयस्य परावृत्तिर्द्विधा दौष्ठुल्यहानितः ॥ २६ ॥
स एवानास्रवो धातुरचिन्त्यः कुशलो ध्रुवः ।
सुखो विमुक्तिकायोऽसौ धर्माख्योऽयं महामुनेः ॥ ३० ॥

त्रिंशिकाविज्ञप्तिकारिकाः समाप्ताः ॥
कृतिरियमाचार्यवसुबन्धोः ॥

शब्दानुक्रमणिका

अकुशला ४१, ४२, ४६, ५१
अक्लिष्टा ७३
अक्लिष्टज्ञानम् २७
अग्निर्माणवक ३२
अचित्तकं ७८
अचित्तो ९९
अचिन्त्यः ९९, १०१
अणुमात्रकः ८५
अतदाकारत्वात् ३०, ३१
अत्यन्तरहितता ९०
अत्रपा ६४
अतिप्रसङ्गात् ३२
अतिमानः ६१
अतीन्द्रियो ३१
अतीन्द्रियत्वं ३१
अर्थरहितचित्तमात्रोपलम्भात् ९७
अर्थोपलब्धि १८
अर्थाभावे २
अदुःखासुखो ४१
अद्वयलक्षणे ९६
अद्वया ५१
अद्वेषो ५६
अध्यारोपितरूपत्वात् ८०
अधिमोक्षो ५३, ५५
अनर्था २४
अनन्तविनिश्चय० २२
अनपत्राप्यं ६९
अन्नवस्त्रविषायुधादि २
अन्नादिक्रिया २
अन्तग्राहदृष्टि ६३
अन्योन्याधिपतित्वेन १९, २५
अन्यभूमिकैः ४८
अन्यैः ४८
अन्योन्यवशात् ८१
अनादिकालिकः २९
अनारकाणां ५
अनास्रवो १०१
अनास्रवो धातुः ९९, १०१,
अनित्यता० ९१
अनधिष्ठितात् ८१
अनिवृत्ते ४९
अनिवृताव्याकृता ४१, ४२, ७३
अनुपलम्भो ९९
अनुमानं ५४
अपत्रपा ५५
अपरिच्छिन्नालम्बनाकाराश्च ४२, ४३
अप्रमादः ५८
अभिधर्मसूत्रे ८४
अभिधानाभिधेयाभावात ३४
अभिप्रायवशात् ८
अभिप्रायवशेन ९
अभिमानः ६२
अभिलपनता ५३
अभिलाषाकारा ५५
अभूतपरिकल्पः ७९, ८९
अमोहो ५७
अयस्कान्तवशादयः प्रस्पन्दवत् ४१
अयःशाल्मलीवने ६
अयोगविहितः ५४
अयोगात् ४
अर्हत्वं ४४
अर्हतो ४९
अलोभादित्रयं ५५
अलोभाद्वेषामोहैः ५१
अलोभो ५६
अववादालम्बनं ९८

अव्याकृतं ३५
अव्याकृताः ४६, ५१
अर्वाग्भागस्य १६
अर्वाङ्मध्यपरभाग० ३१
अविद्यया ४७
अविहिंसा ५९
अशेषक्लेशप्रहाणात् ४९
असत् २४
असत्यात्मनि ३२
अ स
असत्यप्यर्थे ३
असदर्थाविभासनात् १, २४
अस्पर्शविहारो ६०, ६५
असंप्रजन्यं ६४, ७१
असंविदितक० ३७
अस्थिसंकलिकं ९७
अस्मिमानः ४७, ६२
अहिंसा ५५
अही ६४
अहंकारकारणम् ४७
अक्षयतया १०१
आकाशवत् ९४
आकिञ्चन्यायतन० ४९
आगमः ७
आचार्यवचनम् ३०
आत्मदर्शन० ४९
आत्मदृष्टि ४७
आत्मधर्मोपचारः २८, ३०
आत्मन्यज्ञानम् ४७
आत्मप्रज्ञप्तिः २८
आत्मप्रेम ४७
आत्मभावः ३८
आत्ममान ४७
आत्ममोह ४७
आत्मलाभः ७५
आत्मविपर्येमान ४७
आत्मस्नेह ४७
आत्मा ८, २८, २९, ७६
आत्मातिशयः ३०, ८५
आत्मात्मीयदर्शनम् ६३
आत्मात्मीयभावं ६१
आत्माद्युपचारो २९, ३५
आत्मादिनिर्भासो २९
आत्मादिविकल्पवासना २९
आत्मोपचारः ८८
आद्याः ५२
आदानविज्ञान० ७६
आध्यात्मिकोपलम्भाप्रहाणं ९६
आध्यात्मिकं ८९
आप्तोपदेशतो ५३
आप्तोपदेशो ५४
आभिमानिकः ९७
आयतनानि २८
आर्यधर्महेतुत्वात् १०१
आरण्यकर्षिमनःप्रदोषाच्च २०
आलयः ३६
आलयाख्यं ३६, ३९
आलयविज्ञानं ३७, ४०, ४३, ४४, ७३, ७५, ८१, ८४, ८७
आलयविज्ञानात् २९, ४९, ५०, ८२
आलयविज्ञाने ३५, ४२, ८६, ८८, ९६
आलयविज्ञानपरिणामः ८२
आलयविज्ञानस्वरूपे ४७
आलम्बनं ४०, ४१
आलम्बनप्रत्यय ३०, ७६
आवरणभेदेन १००
आश्रद्ध्यं ६४, ७०
आश्रयः ४४, ७७
आश्रयस्य परावृत्तिः ९९, १०२
आश्रयपरावृत्तिरूपः १०१
आयपरावृत्तिलक्षणे १०१
आश्रयोपादानं ३८
आस्रवविगत १०१
आसंज्ञिकादृते ७७
आह्रीक्यं ६८
इन्द्रियं ३९

इन्द्रियग्राह्याः ३१
इन्द्रियरूपं ३७, ३८
ईर्ष्या ६४, ६६
उच्छेदतः ६ ३
उच्छेदान्तं ८३
उत्पत्तिनिःस्वभावता ९३
उद्धवः ६४
उपक्लेशाः ६४
उपचारो ३२, ३३, ३४
उपचारस्य ३०
उपनाहो ६४, ६५
उपपादुकसत्त्ववत् ८, २४
उपलब्धिः ५०
उपलम्भतः ९७
उपादानम् ३७
उपादानविज्ञप्तितो ३७
उपादानस्कन्धेषु ४७
उपादिः ३७, ३८
उपेक्षा ४०, ४२, ५८
ऊनमानः ६२
एकान्तवादो २९, ३०
एकपदव्यभिचारे ८१
एकयोगक्षेमत्वेन ३८
एकालम्बनता ५३
ओघः ४३, ७८
औद्धत्यं ५८, ६९
कपिलत्वे ६९
कर्म ८२, ८७
कर्मण्यताधर्मकायाद्वयज्ञानभावेन १००
कर्मणो ७, २४
कर्मभिः ६, ७
कर्मवासना, ८२, ८३, ९६
कर्माणां ४०
करुणा ५९
कालिङ्गारण्यानि २१
कल्पितात्मना १०, ८५
क्लिष्टत्वात् ४६
क्लिष्टाः ७३
क्लिष्टे ४८
क्लिष्टं ४५
क्लिष्टं मनो ३५, ३६, ४९
क्लिष्टस्य मनस ३५
क्लेश० ४९
क्लेशोपक्लेशाः ८
क्लेशबीजानुषक्तं ८७
क्लेशज्ञेयावरण० २७
क्लेशज्ञेयावरणप्रहाणात् १०२
क्लेशबीजं १०१
क्लेशैरात्ममोहादिभिः ७३
क्लेशाः २७, ४६, ५९, ८ ६
क्लेशावरणदौष्ठुल्यं १००
क्लेशैः ४६, ४८, ५१
कायचित्तकर्मण्यता ५७
कायप्रश्रब्धिः ५८
कारणत्वमात्रेण ३०
कारणक्षणनिरोधसमकालः २८
कारित्रविरोधात् ८६
कारुणिको ५९
काश्मीरवैभाषिकाः १३
कियन्तं कालं ४६
कुशलाः ४१, ४२, ५१, ५५, १०१
कुशलो ९९
कुशलक्लिष्टाव्याकृतावस्थास्वविशेषेण ४९
कुशलाकुशलम् ३५
कुशलाकुशलाद्वया ५ १
कुशलाकुशलाव्याकृत० ८९
कुशलाकुशलत्वेनाव्याकरणात् ४६
कुशलाव्याकृते ४७
केशचन्द्रादिदर्शनम् २४
केशभ्रमरादि २
केशाद्याभासो २
केशोण्ड्रकादि १
केशोण्ड्रकाद्युपचारः २९
क्रोधो ६४, ६५
कौकृत्यं ६४, ७१
कौसीद्यं ६४, २०

कौसीद्यप्रतिपक्षः ५७
कृत्यक्रिया २, ४, २४
खपुष्पवत् ९४
गन्धर्वनगर० ७९
गन्धर्वनगरेणासत्त्वान् २
ग्रहाग्रहौ १५, २५
ग्राहको ९८
ग्राह्यग्राहकभावः ९०
ग्राह्यग्राहकभावरहितः ९१
ग्राह्यग्राहकानुशयो ९६
ग्राह्यग्राहो ८२, ९६
ग्राह्यग्राहकादि १०
ग्राह्यग्राहकोपलम्भे ९६
ग्राह्यग्राहकविकल्पस्य २२
ग्राह्यग्राहकाभिनिवेशानुशयाः ९८
ग्राहद्वयम् ८२, ९५, ९६
ग्राह्यार्थानुपलम्भाच्च ९९
ग्राह्याभावे ९८
ग्राहद्वयवासना ८३, ९६
ग्राहकग्राहः ८२, ८३, ९६
ग्राहकचित्ताभावात् ९९
ग्राहकाभावमपि ९८
ग्राह्ये ९८
गुणः ३२
गुणवैयर्थ्यप्रसङ्गात् ३४
गौण एव ३४
गौतम २१
घटकुड्याद्याकारभेदो ३१
चक्षुरादिविषयत्वं १४, १६
चक्षुर्विज्ञानं ७५
चक्षुरादिविज्ञानं ३६, ८४
चक्षुरादिविज्ञानानां ४४, ७५
चक्षुरादिविज्ञानस्य ८२
चक्षुरादिविज्ञानैः ७६
चित्तं १
चित्तकर्मण्यता ५७
चित्तचैत्ताः ७९, ९०
चित्तधर्मता ९६, ९७
चित्तमवस्थितं ९९
चित्तमात्रं १
चित्तप्रशठता ५८, ५९
चित्तमेव ९८
चित्तसन्तति ८
चित्तसमता ५८, ५९
चित्तस्यानाभोगता ५९
चित्तस्यैकाग्रता ५३
चित्ते ४७
चित्तानाभोगता ५८
चित्रीकरणात् ९७
चिन्तामयः ५४
चेतना ३९, ४१, ४८, ७२
चेतसः प्रसाद ५५
चैत्ता ४६
चैत्तैः ३९, ४६
छन्दः ५२
छन्दाधिमोक्षस्मृतयः ५२
छायावृती २५
जन्तुर्मनुजो २८
जरामरणं ८६
जात्यन्धवत् ९८
जात्यविनाभावित्वान् ३३
जात्युपचारः ३३
जातिर्द्रव्यं ३२
जातिप्रत्ययं ८६
जिनपुत्रा १
जीवितेन्द्रियविरोधिनी २०
जीवो २०
तत्कर्मभिः २४
तत्संघाते १३, २५
तथता ९२, ९३, ९४, ९५,.
तदग्राहव्युदासार्थम् ९७
तन्मात्रे ९७
तदाभासा १८, २५
तदालम्बमिति ४५
तदात्मकस्य १४

तद्भाजनलोकसुखसंवर्तनीयेन ६
तर्कागोचरत्वात् १०१
तिरश्चां २४
तिर्यक्प्रेतविशेषाणां ६
तिरश्चां ६
त्रिकसन्निपातः ३९
त्रिधातुकाः ७९
त्रिवेदना ५१, ७३
तीक्ष्णत्वे ३२
तुल्यकर्मविपाकावस्था ३
तुल्याकृतिप्रमाणबलानां ५
तैमिरिकस्य १. २४, २९
त्रैधातुकं १, ८०, ८९,
तृष्णया ४७
दण्डकारण्य० २१
दण्डासिधरैश्च ३
दर्शनमार्गम् ९९
दर्शनश्रवणादि ५२
द्वयावरणबीजं १०१
द्वयोर्द्वयोः १०१
दाहदुःखं ५
दिग्भागभेदो १४, २५
द्विप्रकारोऽप्युपचारो २८
द्विप्रकारस्याप्येकान्तवादस्य २७
द्विविधायतनत्वेन ९, २५
द्वयाद्विज्ञानषट्कं ९
दुःखं २४
दुःखतानात्मता ९१
देशकालनियमः २
देशादिनियमः ३, २४
देशकालनियमादिचतुष्टयं ४
दुःखसंयोजनं ६०
दुःखोत्पत्तिः ६१
दुःखोनुभवः ४१
देशनालम्बनं ९८
द्वेषप्रतिपक्षो ५६
दोषप्रसंगः १३
दौष्टुल्यं ५७
दौष्टुल्यद्वयवासनाभावेन १००
दौष्ठुल्यहानितः ९९, १००
दृग्विषयाभावं १८, २५
दृष्टान्ताभावाच्च १०१
द्रष्टा ९
द्रव्यं ११, १३, १५
द्रव्यतः ३०, ६७
द्रव्यान्तरत्वं १६
द्रव्योपचारः ३३
दृष्टिपरामर्शः ६३
धर्मकायः १०२
धर्मता ६५, ९०
धर्मधातु० ९४
धर्मनैरात्म्य० २७
धर्मनैरात्म्यप्रवेश १०, २५
धर्मप्रज्ञप्ति २८
धर्मास्त्वेते ८
धर्मामिषकौशलात्मकं ६६
धर्मेष्वाघातः ५६
धर्माः २८, २९, ४१, ८९, ९२
धर्माख्यो ९९, १००
धर्मोपचारः १८, ३५
धातवः २८
धातुः ४८, ८४, १०१
ध्रुवः ९९, १०१
नगरक्रिया २
नरके २४
नरकपाला ५, ६
नरकपालादिषु ४
नरकपालादिदर्शने ४, २४
नरकवत् ४
नरकेषु ६
नान्यतमाभावे ३२
नान्यधातुभूमिकैः ४८
नाप्रबुद्धोऽवगच्छति २५
नाभिनिविशते ९८
नामरूपं ८५, ८६
नारका ५

नारकाणां ६
नार्थतः २
नार्थविशेषात् १९
नित्यं ३६
नित्यत्वात् १०१
नियमो देशकालयोः २४
निर्युक्तिकत्वात् ३०
निर्वाणे ६१
निर्वाणधातुः ८४, ८७
निर्वाणाधिगमो ८४
निर्विकल्पलोकोत्तरज्ञान० ९२
निराकारं ३७
निरालम्बनं ३७
निरुत्तरा १००
निरुपधिशेषः ८४, ८७
निरोधसमापत्तौ ४९, ७७, ७८
निवृताः ४६
निवृत्तिः ४९, ८४
निर्विकल्पत्वाच्च ९९
निर्विकल्पं ९८
निवृताव्याकृताः ४१, ४२, ४६
निष्पन्नः ९०
निष्यन्दवासनां ३५, ८६
निष्यन्दवासनावृत्तिलाभात् ३५
निःस्वभावता ९२, ९३
नीलकं ९७
नीलपीतादिकं १४
नैरात्म्यं १०
नैरात्म्यदर्शन ४९
नैरात्म्यप्रवेशो १०
नैरुक्तेन ४५
नैवालम्बनं ३०
नोपलभते ९७
पञ्चधर्माः ४८
पञ्चविज्ञानकाया ३०
पञ्चस्कन्धकोपनिबन्धात् ८८
पञ्चसूपादानस्कन्धेपु ६३, ६४
पदार्थो ३४
परचित्तं २२
परचित्तविदः २२
परचित्तविदां २५
परतन्त्रः ८८, ९०, ९१
परतन्त्रस्वभावः ८९, ९२, ९४
परतन्त्रस्वरूपं ८९
परभागस्य १६
परममौनेययोगात् १०२
परमाणवो ११, १२, ३०, ३१
परमाणुशः ११, २५
परमाणोः १२, १४
परमाणोरसंयोगे २५
परमार्थं० ९३, ९४
परमार्थतः २७, ३०, ३१, ४०
परमार्थनिःस्वभावता ९३, ९४
परविज्ञप्तिविशेषात् २०, २५
परविज्ञप्तिविशेषाधिपत्यात् २१
परावृत्तिः ९९
परिकल्पितः २९, ८८, ९४
परिकल्पितः स्वभावः ९४
परिकल्पितस्वभावत्वात् ३०
परिच्छिन्नालम्बनाकारत्वात् ४२
परिच्छिन्नालम्बनाकारत्वं ४३
परिणामः ६, ७, २८, ३५, ३६, ४४, ५०, ८१, ८४
परिणामशब्देन ३०
परिनिष्पन्नः ८८, ९०, ९१, ९२
परिनिष्पन्नः स्वभावः ९४
प्रत्यक्षं ५४
प्रत्यक्षत्वं १७, २५
प्रत्यक्षं प्रमाणं १७
प्रत्यक्षबुद्धिः १७, २५
प्रत्ययोद्भवः २९
प्रत्यात्मवेद्यत्वात् १०१
प्रतिघः ६०
प्रतिपत्ति ५०, ८०
प्रतिसन्धिबन्धः ८४
प्रतिसन्धिविज्ञानं ८४, ८५

प्रतिसंवेदनाकारेण ३७
प्रतिहतचित्तस्य ६०
प्रतीत्यसमुत्पन्नत्वात् ३०
प्रदाश ६४, ६५
प्रदीप्तायामयोमय्यां ५
प्रदोषमात्रेण २१
प्रमादो ६४, ७०
प्रमादप्रतिपक्षः ५८
प्रविचयो ५४
प्रवृत्तिविज्ञान० ३१, ३५, ८२
प्रश्रब्धिः ५५, ५७
प्रसादाकारा ५५
प्रज्ञप्ति ६७
प्रज्ञा ५४
पापमेवावद्यम् ५६
प्राकृतं ९८
प्राणातिपात० २०
प्रार्थना ५६, ६०
पिण्डः १२, १४, २५
पिशाचादिमनोवशात् २०, २५
पुद्गलस्य ६६
पुद्गलेषु ६१
पुनर्भवोत्पत्तिः ६१
पुनर्भवाक्षेपसमर्थं ८६
पुद्गलनैरात्म्यं ९
पुद्गलनैरात्म्यप्रवेशो ९, २५
पुद्गलधर्मनैरात्म्यं २७
पूयकं ९७
पूयनद्यादिदर्शने ३, २४
पुण्यापुण्यानेञ्ज्यकर्मवासनानुगतं ४३
पूर्वकर्माक्षिप्तजन्मनिरोधे ८७
पूर्वजन्मोपचितेन ८३
पूर्वदक्षिणापरोत्तरादिदिग्भेदो ३१
पूर्वदिग्भागो १४
पूर्वविपाके ८३
प्रेतवत् ३, २४
प्रेतानां ६
फल ७, १८
फलपरिणामः ३५
फलभावेन ३५
फलमन्यत्र २४
फलविपाकं ४०
फलसंपत्ति ९९
फलाभिनिर्वृत्तिविपाकः ३५
बन्धः १०१
बहिरभावात् २८
बहिरुपलम्भाप्रहाणेन ९६
बालपृथग्जना ८९
बालैर्धर्माणां १०
बाह्यं ८९
बीजावस्थो ८७
बीजाश्रयत्वात् ७५
बुद्धो १०२
बुद्धगोचरः २२, २३
बोधिसत्त्वगतदौष्ठुल्यहानितः १००
भगवता ७
भ्रमरारामस्त्रीपुरुषादिकं ३
भाजनलोकसन्निवेशविज्ञप्ति ३८
भाजनमात्मा ७९
भाजनविज्ञप्ति ३७
भावाग्रिकभावना० ४९
भावनामयः ५४
भूतविशेषः ६
भूतानां संभवः ६
भूमिपारमितादिभावनया १०१
भूमौ ४८
मदो ६४, ६८
मननात्मकम् ४५
मननाख्य ३५, ३६, ४४
मननालक्षणम् ४७
मनसि ४८
मनो १, ४७, ४९
मनो दण्डो २१
मनो नाम ४४, ४५
मनःप्रदोषात् २०
मनोवज्रवभूमिकाः ४७

मनोवन्निवृताव्याकृताः ४८
मनोविज्ञप्ति १८
मनोविज्ञान० ३२, ४५, ७७
मनोविज्ञानस्य ७७
मनोविज्ञानेन १७
मनस्कार ४८
मनस्तद्धातुकं ४५
मरणं २०
महाकात्यायन० २०
महामुनेः ९९, १००, १०१, १०२
महामुनेर्धर्मकायः १०२
महायाने १
महावद्यः २१
म्रक्षः ६४, ६५
मातङ्गारण्यानि २१
मात्सर्यं ६४, ६६, ६७
मानः ६१, ६२
मानोऽतिमान ६१
मानवः २८
माया ६७, ७९
मायावत् ९४,
मायामरीचिस्वप्न० ९२
मार्गं ४९
मार्गबलेन ४९
मिथ्या ५४
मिथ्यामानः ६२
मिथ्यादृष्टिः ६३
मिद्धं ६४, ७१, ७३, ७८
मिद्धेनोपहतं १९, २५
मुनिरब्रवीत् ९, २५
मुख्यः ३४
मुख्येऽग्नौ ३२
मुख्ये धर्मेषु ३२, ३४
मुख्ये पदार्थे ३२
मुषिता स्मृतिः ६४, ७०
मूर्च्छा ७८
मूत्रपुरीषादिपूर्णा ३
मूलविज्ञानं ७५
मूलविज्ञाने ४८, ७४
मूलविज्ञानात् ८१
मूलविज्ञानसंप्रयुक्तेभ्यो ४८
मोहो ६१
मोहप्रतिपक्षः ५७
मोहांशिकत्वं ६५
मोक्षः ४९
मोक्षसर्वज्ञत्वाधिगमार्थम् २७
मोक्षाभावः ४९
यन्त्रजः ४८
यथाप्रत्ययमुद्भवः ७४
यथाभूतपरिज्ञानात् ५३
यथाभूतार्थदर्शनात् ९८
यदाभासा ९, २५
युक्तिविरोधात् ३८
युगपदालम्बनप्रत्ययसान्निध्ये ७६
युगपद्योगात् १२, २५
योगविहितः ५४
योगाचारालम्बनानां ९७
योगायोगविहितोऽन्यथा ५४
योनिशोमनसिकारः ६७
रसादिकं १७
रागो ६०
रागप्रतिघमूढयः ५९
रूपं २८
रूपप्रतिभासा ९
रूपलक्षणं रूपं ९४
रूपाद्यर्थेन २
रूपाद्यायतनास्तित्वं ७, ८, २४
रूपादिकमायतनं ११
रूपादिकोऽर्थः ७
रूपादिधर्मप्रतिभासं १०
रूपादिधर्मोपचारः २९
रूपादिनिर्भासो २९
रूपादिप्रतिभासं ७
रूपादिलक्षणो १०
रूपादिविकल्पः ३७
रूपादिविकल्पिका १८

रूपादिविकल्पवासना २९
रूपादिविषयप्रत्यवभासत्वात ३६
रूपादिविज्ञप्ति २
रूपादिविज्ञप्तीनां १०, ११
रूपशब्दाद्यालम्बनं ९८
रूपशब्दाद्युपलब्धिः ७३
रूपशब्दगन्धरसस्प्रष्टव्यधर्मात्मकस्य ५०
लज्जा ५६
लक्षणनिःस्वभावता ९३
लोकादुत्तीर्णमिति ९९
लोकमधिपतिं ५६
लोकोत्तरं ९८, ९९
लोकोत्तरज्ञानं ९४
लोकोत्तरे ४९
लोकोत्तरज्ञानपृष्ठलब्धेन९२
लोभद्वेषमोहैः ५१
लोभप्रतिपक्षः ५६
लौकिकलोकोत्तर० ५८
लौकिकव्यवच्छेदार्थं० ४९
वर्णाकृतिप्रमाणवलविशिष्टा ६
वर्तमानजनका ३२
वर्तमानजन्मनिरोधे ८२
वसुवन्धोः २३
व्यवच्छेदार्थम् ४६, ४८
व्याध्मातकादिकं ९७
व्यारोपः ६६
व्यावृत्तिः ४४
वाक्यशेषः ५०, ९१
वासना ७
वासनान्यत्र २४
विकल्पः ७९, ८१, ८९
विकल्पमात्रं ८९
विकल्पेन ८८
विक्रिया २५
विचारः ६४, ७२
विचिकित्सा ६४
वितथप्रतिभासतया २२
वितर्कः ६४, ७२
वित् ३९
विनाप्यर्थेन ३
विनियताः ५५
विनियतैः ५१, ७३
विनेयजनं ८, २४
विपद्गुमकं ९७
विपर्यासनिमित्तं ४७
विपक्षप्रतिपक्षयोः ४९
विपाकः ३५, ३६
विपाकेन ४३
विपाकनिष्यन्दवासनापरिपुष्टिः ३५
विपाकपरिणामः ३६, ४४
विपाकवासनां ३५, ८६
विपाकवासनावृत्तिलाभात् ३५
विपाकोपचारः
विभुत्वं ९५
विमतिः ६४
विमुक्तिकायः ९९, १००, १०१
विवेकाववोधः ५४
विंशतिका २३
विशालमते ७५
विसुद्ध्यालम्बनः ९१
विशुद्धालम्बनत्वात् १०१
विपयस्य ५०
विपयोपलब्धिः ५०
विषयविज्ञप्ति ३५
विहिंसा ६४, ६८
विहिंसाप्रतिपक्षः ५९
विक्षेपो ६४, ७१
विज्ञप्तिः १, २, १८, २४, २५
विज्ञप्तिनियमः १८, २५
विज्ञप्तिमात्रं १, १६, २०, २२, २४, ८८, ९६, ९७
विज्ञप्तिमात्रकं ७९, ८०, ८१
विज्ञप्तिमात्रमेवेदं ९५
विज्ञप्तिमात्रे २७, ९६
विज्ञप्तिमात्रत्वं १०
विज्ञप्तिमात्रता ९५

विज्ञप्तिमात्रत्वे ९५, ९६
विज्ञप्तिमात्रतायां २२, ९७, ९९
विज्ञप्तिमात्रदेशना १०
विज्ञप्तिमात्रप्रविष्टयोगिनः ९९
विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः २३
विज्ञप्त्यन्तरपरिकल्पितेनात्मना १०
विज्ञप्त्यन्तरमर्थः १०
विज्ञप्तेश्चक्षूरूपायतनत्वेन ९
विज्ञानं १, ७, २८, ३०, ३६, ३८, ३९, ४५, ७९, ८०, ८१, ८४, ८५, ८६, ९५, ९६, ९८
विज्ञानग्राह्यस्य ९८
विज्ञानपरिणामः ७, २८, ३०, ५०, ७८, ७९
विज्ञानानां ७४
विज्ञानप्रत्ययं ८५, ८६
विज्ञानप्रतिनियमेन ७६
विज्ञानमात्रत्वे ९८
विज्ञानमेवार्थाकारं ३१
विज्ञानवत् २९
विज्ञानवद्विज्ञेयमपि २७
विज्ञानस्यान्याकारो ३१
विज्ञानस्वरूपत्वात् ४६
विज्ञानोपलम्भाप्रहाणात् ९७
विज्ञेयं ३०
विज्ञेयमपिद्रव्यत २९
विज्ञेयवत् ३०
विज्ञेयवद्विज्ञानमपि २७
वीर्यं ५५, ५७
वेदना २८, ३९, ४०, ४१, ४२, ४८
वेदनादयो ३२
वैशेषिकैः ११
श्रद्धा ५५
श्ववायसायसपर्वतादि ४
शाठ्यं ६४, ६७
श्रावकबोधिसत्त्वयोः १०१
श्रावकादिदौष्ठुल्यहानितः १००
शाश्वतान्तं ८३
शीलव्रतपरामर्शः ६४
श्रुतमयः ५४
०शुद्धलौकिकज्ञान० १८
शुभाशुभानां ४०
शून्यः ९१
श्रेयानस्मि ६२
षट्केन १२, २५
षड्विधस्य ५०
षडंशता १२, २५
षड्विज्ञानकायाः ८४, ८५
षडायतनं ८६
सकृत्पादक्षेपणे १५
सङ्घातः १४
सत्कायदृष्टिः ४७
सत्यकायदृष्ट्यादिका ६३
सत्कायदृष्टिसमाश्रयेण ६१
सत्कायदृष्टेः २७
सत्त्वः ८
सत्त्वा नेष्यन्ते ४
सत्त्वेष्वाघातः ६०
सत्त्वानामर्थप्रतिभासा १९
सदेति ४६
सदृशोऽस्मि ६२
सन्तान २
सन्तानानियमः २, ३, २४
सन्निवेशपरिकल्पः १४
सभागसन्तति २०
समनन्तरप्रत्यय० ३०, ७६
समनन्तरप्रत्ययत्वं ७४
सममनालम्ब्यालम्बकं ९८
समानदेशत्वात् १२, १५
सहेतुका ८
समानस्वकर्मविपाकाधिपत्यात् ४
समापत्तिद्वय० ७७
समुदाचारनिरोधः ७७
समुदाचाराभावात् ९९
सर्वकर्मबीजानुगतं ८८
सर्वकालं ४६

सर्वत्रगतत्वात् ४८
सर्वचैतसिकैः ७३
सर्वत्रगाः ५१, ५२
सर्वत्रगैः ३९, ५१, ७३
सर्वधर्मा ९२
सर्ववीज० ७६, ८१, १०१
सर्ववीजकं ३६, ८४
सर्ववीजकमालयविज्ञानं १००
सर्वविज्ञानोत्पत्तौ ७३
सर्वज्ञत्वं २७
सर्वज्ञतावाप्ति १०१
सर्वज्ञानाभिधानविषयातिक्रान्तत्वात् ३४
सर्वाकारसर्वज्ञेयज्ञानाविघातादिति २२
सर्वावरणविमोक्षं ९५
सर्वेर्यापथेषु ६०
ससम्प्रयोगं १
स्कन्धाः २८
स्त्यानं ६४, ६९
स्थानविज्ञप्तिः ३८
स्पर्श ३९. ४८, ५२
स्पर्शादयः ४२, ४८, ५२
स्पर्शविहारः ६०
स्प्रष्टव्यप्रतिभासा ९
स्मरणं १८, २५
स्मृतिः ५३
स्मृतिलोपस्वप्नदर्शन० २०
स्मृतिलोपादि० २०, २५
स्यादणुमात्रकः १२
स्वर्गे ६, २४
स्वचित्तधर्मतायां ९८
स्वचित्तज्ञानमज्ञानात् २६
स्वप्ने २, ४, १८, १९
स्वप्नवत् ३, २४
स्वप्नादौ १७, २५
स्वप्नोपघातवत् ४, २४
स्वप्नविज्ञानवत् ३१
स्ववीजपरिणाम० ९
स्ववीजाद्विज्ञप्तिः ९, २५
स्वभासविज्ञानजनकत्वेन ३०
स्वभूमिकैः ४८
स्वभावो ८८
स्वशक्तिपरिपोषे ८१
स्वसन्तानपरिणाम० १९
संक्लेशः ६१
संक्लिष्टं ४७
संकीर्णस्वसामान्यलक्षणेपु ५४
संचितालम्बनां ३०
संप्रत्ययाकारा ५५
संप्रयुक्तं ४६
संप्रयोगः ४६
संव्रततः २७ ३०
संस्कारा २८, ८५, ९१
संस्कारप्रत्ययं ८४, ८५, ८६
संसारः ८६
संसारनिवृत्तिः ८६, ८७
संसारप्रवृत्तिर्निवृत्तिः ८४, ८८
संहता ११
संज्ञा २८, ३९, ४१, ४८
साधारणे धर्मे ३२
साधिष्ठानं ३७, ३८
सापेक्षनिरपेक्षावस्थयोः ३१
साप्रमादिका ५५, ५८
सामान्यनिर्देशात् ४७
सामान्येनाभिधानात् ४८
सारणस्य २०
सुखोऽनुभवः ४०
सुगतौ ६१
सुभूते ८९
सूत्रे ३९, ८९
सूत्रविरोधः ८८
सूत्रविरोधात् ३८
सूचमानीक्षा १५, २४
सोत्तरा १००
सोपधिशेषो ८४, ८७
संततिपरिणामविशेषात् ८७
हस्तविक्षेपादिक्रिया ६

हस्त्यश्वादिकस्य १६
ह्रीः ५५, ५६
हेत्वर्थौ १०१
हेतुपरिणामो ३५
हेतुफलयोः ४३
हेतुफलसम्बन्धे ६१
हेतुभावेन ३५
क्षणिकत्वात् ४३
क्षणिकस्य १७
क्षयज्ञानात् ४४
क्षेमत्वात् १०१
ज्ञानं ९९
ज्ञानस्यानन्तरमाश्रयस्य ९९
ज्ञानाभिधानाभाव ३४
ज्ञानमादानविज्ञानं १०१
ज्ञेयावरणं २७
ज्ञयावरणदौष्ठुल्यं १००

शुद्धिपत्रम्

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
११	२३	वैशेषिकैः	वैशेषिकैः,
११	२४	परमाणुशः	परमाणुशः,
१८	४	चक्षुविज्ञानादिका	चक्षुर्विज्ञानादिका
१८	१६	०निविकल्प०	०निर्विकल्प०
२०	२०	वाक	वाक्
२१	२०	वहावद्यः	महावद्यः
२२	१३	विज्ञप्तिमात्रमेवेदं	विज्ञप्तिमात्रमेवेदं,
२२	१३	परचित्तविदः,	परचित्तविदः
२२	२७	अयाथर्थं	अयथार्थं
२३	१०	तर्कविषयत्वात्	तर्काविषयत्वात्
२३	१४	विधातादिति	विघातादिति
२५	१३	क्रमेणेति र्युगपन्न	क्रमेणेतिर्युगपन्न
२५	१४	चनो	च नो
२७	७	०वाधञ्च	०वोधश्च
२७	८	घम०	घर्म०
२७	१५	आनुपूर्वेण	अनुपूर्वेण
३०	७	संवृतिनिरुपादाना	संवृतिर्निरुपादाना
०	८	नियुक्तिकत्वात्	निर्युक्तिकत्वात्
३०	२५	संचितालम्वनाञ्च	संचितालम्वनाश्च
३७	२	आकारो च	आकारश्च
३७	८	०विज्ञाप्तिश्च	०विज्ञप्तिश्च
३७	२८	वह असंविदित	वह आलयविज्ञान असंविदित
३९	१८–१९	इन्द्रियं पुनर्येन विशेषेण सुखदुःखादि वेदनीयाकार-परिच्छेदो यः स स्पर्शः ।	अंशस्यास्याभावो बोद्धव्यः।
४०	८	मनस्काराश्चेतस	मनस्कारश्चेतस
४०	३२	०योगेच्छानिरुद्धे	०योगेच्छा निरुद्धे च पुनः
४२	१	विदित	विदिति

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
४२	११	परिच्छिन्नालम्बनाकार-त्वात् ।	परिच्छिन्नालम्बनाकार-त्वात्
४२	११–१२	रागद्वेषानुशयित्वाच्च,	रागद्वेषानुशयित्वाच्च ।
४२	१९	आकार वाली है ।	आकार वाली है,
४२	१९	···होने के कारण	···होने के कारण ।
४२	२१	वहां	वहां
४३	२०	स्रातो	स्रोतो
४४	१५	उक्त	उक्तः
५१	९	लाभद्वेषमोहैः	लोभद्वेषमोहैः
५३	९	प्रवादिभिरपहतु	प्रवादिभिरपहर्तुं
५३	२१	पुनरविक्षेपकमिका	पुनरविक्षेपकर्मिका
५६	८	तेनावधेन	तेनावद्येन
५६	१६	चैवं कर्माणं	चैवंकर्माणं
५६	१६	गहिष्यती०	गर्हिष्यती०
५७	१२	कौशीद्य०	कौसीद्य०
५९	३	०ताचिर०	०ताऽचिर०
५९	२७	क्लेशाराग०	क्लेशा राग०
६०	५	कर्मनिर्दिश्यते	कर्म निर्दिश्यते
६४	१६	इर्ष्या	ईर्ष्या
६५	१०	क्राधादूर्ध्व	क्रोधादूर्ध्व
६५	२२	त्वमेवं कारीत्य०	त्वमेवंकारीत्य०
६७	१०	याभूतार्थं०	याऽभूतार्थं०
८०	१८	०दान्त परि०	०दान्तपरि०
८१	२३	विशेषत्व	विशेष्यत्व
९०	१७	ग्राह्य ग्राहकभावः	ग्राह्यग्राहकभावः
९१	१९	संस्काराः ।	संस्काराः
९३	२	जाते ।	जाते ?
९५	२७	०घ्राणरसस्पर्शनैः	०घ्राणरसनस्पर्शनैः
९७	६	तन्मात्रेनाव०	तन्मात्रे नाव०
९७	८	तदग्रहण्यु०	तद्ग्राहण्यु०
१००	१०	परावृत्तिरर्या	परावृत्तिर्या